



सती सातनामती और सती साखरवाती

सती भक्तमूर्ता और बालकों के रूप में ब्रह्मा - विष्णु - महेश

नारी ! तू नारायणी

सती सावित्री और जिनराज

सर्वकाममोक्षी श्रीलक्ष्मी

भक्तिमती जनाबाई और भगवान विठ्ठल

संतमूर्जव संत श्री आसारामजी बापू और उनकी मातुश्री भी महेशीबा

प्रस्तावना

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।

'जिस कुल में स्त्रियों का आदर है वहाँ देवता प्रसन्न रहते हैं।'

इस प्रकार शास्त्रों में नारी की महिमा बतायी गयी है। भारतीय समाज में नारी का एक विशिष्ट व गौरवपूर्ण स्थान है। वह भोग्य नहीं है बल्कि पुरुष को भी शिक्षा देने योग्य चरित्र बरत सकती है। अगर वह अपने चरित्र और साधना में दृढ़ तथा उत्साही बन जाय तो अपने माता, पिता, पति, सास और श्वसुर की भी उद्धारक हो सकती है।

धर्म (आचारसंहिता) की स्थापना भले आचार्यों ने की, पर उसे सँभाले रखना, विस्तारित करना और बच्चों में उसके संस्कारों का सिंचन करना – इन सबका श्रेय नारी को जाता है। भारतीय संस्कृति ने स्त्री को माता के रूप में स्वीकार करके यह बात प्रसिद्ध की है कि नारी पुरुष के कामोपभोग की सामग्री नहीं बल्कि वंदनीय, पूजनीय है।

इस पुस्तक में परम पूज्य संत श्री आसारामजी बापू के सत्संग-प्रवचनों से आदर्श नारियों के कुछ ऐसे जीवन-प्रसंग संग्रहित किये गये हैं कि नारियाँ यदि इस चयन का बार-बार अवलोकन करेंगी तो उन्हें अवश्य लाभ होगा।

श्री योग वेदान्त सेवा समिति
संत श्री आसारामजी आश्रम, अमदावाद।

अनुक्रम

संयमनिष्ठ सुयशा.....	5
अदभुत आभासम्पन्न रानी कलावती	13
उत्तम जिज्ञासुः मैत्रेयी	15
ब्रह्मवादिनी विदुषी गार्गी.....	17
अथाह शक्ति की धनीः तपस्विनी शाण्डालिनी.....	19
सती सावित्री	20
माँ सीता की सतीत्व-भावना	22

आर्त भक्त द्रौपदी	22
दैवी शक्तियों से सम्पन्न गुणमंजरी देवी	24
विवेक की धनी: कर्मावती.....	26
वास्तविक सौन्दर्य	39
आत्मविद्या की धनी: फुलीबाई	43
आनंदीबाई की दृढ श्रद्धा.....	48
कर्माबाई की वात्सल्य-भक्ति.....	50
साध्वी सिरमा	51
मुक्ताबाई का सर्वत्र विट्ठल-दर्शन	56
रतनबाई की गुरुभक्ति	58
ब्रह्मलीन श्री माँ महँगीबा	60
<i>मेरी माँ का दिव्य गुरुभाव.....</i>	60
<i>'प्रभु! मुझे जाने दो...'</i>	61
<i>इच्छाओं से परे: माँ महँगीबा</i>	62
<i>जीवन में कभी फरियाद नहीं.....</i>	63
<i>बीमारों के प्रति माँ की करुणा</i>	63
<i>'कोई कार्य घृणित नहीं है...'</i>	64
<i>ऐसी माँ के लिए शोक किस बात का?.....</i>	64
अम्मा की गुरुनिष्ठा.....	66
<i>स्वावलंबन एवं परदुःखकातरता</i>	66
<i>अम्मा में माँ यशोदा जैसा भाव</i>	67

देने की दिव्य भावना.....	67
गरीब कन्याओं के विवाह में मदद.....	68
अम्मा का उत्सव प्रेम.....	68
प्रत्येक वस्तु का सदुपयोग होना चाहिए.....	69
अहं से परे.....	69
मीराबाई की गुरुभक्ति.....	70
राजकुमारी मल्लिका बनी तीर्थकर मल्लियनाथ.....	72
दुर्गादास की वीर जननी.....	73
कर्मनिष्ठ श्यामो.....	74
शक्तिस्वरूपा माँ आनंदमयी.....	75
अभाव का ही अभाव.....	79
माँ अंजना का सामर्थ्य.....	80

लज्जावासो भूषणं शुद्धशीलं पादक्षेपो धर्ममार्गं च यस्या।

नित्यं पत्युः सेवनं मिष्टवाणी धन्या सा स्त्री पूतयत्येव पृथ्वीम्॥

'जिस स्त्री का लज्जा ही वस्त्र तथा विशुद्ध भाव ही भूषण हो, धर्ममार्ग में जिसका प्रवेश हो, मधुर वाणी बोलने का जिसमें गुण हो वह पतिसेवा-परायण श्रेष्ठ नारी इस पृथ्वी को पवित्र करती है।' भगवान शंकर महर्षि गर्ग से कहते हैं: 'जिस घर में सर्वगुणसंपन्ना नारी सुखपूर्वक निवास करती है, उस घर में लक्ष्मी निवास करती है। हे वत्स ! कोटि देवता भी उस घर को नहीं छोड़ते।'

नारी का हृदय कोमल और स्निग्ध हुआ करता है। इसी वजह से वह जगत की पालक, माता के स्वरूप में हमेशा स्वीकारी गयी है। 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' के गणेश खण्ड के 40 वें अध्याय में आया है:

जनको जन्मदातृत्वात् पालनाच्च पिता स्मृतः।

गरीयान् जन्मदातुश्च योऽन्दाता पिता मुने॥

तयोः शतगुणे माता पूज्या मान्या च वन्दिता।

गर्भधारणपोषाभ्यां सा च ताभ्यां गरीयसी॥

'जन्मदाता और पालनकर्ता होने के कारण सब पूज्यों में पूज्यतम जनक और पिता कहलाता है। जन्मदाता से भी अन्नदाता पिता श्रेष्ठ है। इनसे भी सौगुनी श्रेष्ठ और वंदनीया माता है, क्योंकि वह गर्भधारण तथा पोषण करती है।'

इसलिए जननी एवं जन्मभूमि को स्वर्ग से भी श्रेष्ठ बताते हुए कहा गया है: **जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।**

संयमनिष्ठ सुयशा

अमदावाद की घटित घटना है:

विक्रम संवत् 17 वीं शताब्दी में कर्णावती (अमदावाद) में युवा राजा पुष्पसेन का राज्य था। जब उसकी सवारी निकलती तो बाजारों में लोग कतारबद्ध खड़े रहकर उसके दर्शन करते। जहाँ किसी सुन्दर युवती पर उसकी नजर पड़ती तब मंत्री को इशारा मिल जाता। रात्रि को वह सुन्दरी महल में पहुँचायी जाती। फिर भले किसी की कन्या हो अथवा दुल्हन !

एक गरीब कन्या, जिसके पिता का स्वर्गवास हो गया था। उसकी माँ चक्की चलाकर अपना और बेटी का पेट पालती थी। वह स्वयं भी कथा सुनती और अपनी पुत्री को भी सुनाती। हक और परिश्रम की कमाई, एकादशी का व्रत और भगवन्नाम-जप, इन सबके कारण 16 वर्षीया कन्या का शरीर बड़ा सुगठित था और रूप लावण्य का तो मानों, अंबार थी ! उसका नाम था सुयशा।

सबके साथ सुयशा भी पुष्पसेन को देखने गयी। सुयशा का ओज तेज और रूप लावण्य देखकर पुष्पसेन ने अपने मंत्री को इशारा किया। मंत्री ने कहा: "जो आज्ञा।"

मंत्री ने जाँच करवायी। पता चला कि उस कन्या का पिता है नहीं, माँ गरीब विधवा है। उसने सोचा: 'यह काम तो सरलता से हो जायेगा।'

मंत्री ने राजा से कहा: "राजन् ! लड़की को अकेले क्या लाना? उसकी माँ से साथ ले आये। महल के पास एक कमरे में रहेंगी, झाड़ू-बुहारी करेंगी, आटा पीसेंगी। उनको केवल खाना देना है।"

मंत्री ने युक्ति से सुयशा की माँ को महल में नौकरी दिलवा दी। इसके बाद उस लड़की को महल में लाने की युक्तियाँ खोजी जाने लगीं। उसको बेशर्मी के वस्त्र दिये। जो वस्त्र कुकर्म करने के लिए वेश्याओं को पहनकर तैयार रहना होता है, मंत्री ने ऐसे वस्त्र भेजे और कहलवाया: "राजा साहब ने कहा है: सुयशा ! ये वस्त्र पहन कर आओ। सुना है कि तुम भजन अच्छा गाती हो अतः आकर हमारा मनोरंजन करो।"

यह सुनकर सुयशा को धक्का लगा ! जो बूढ़ी दासी थी और ऐसे कुकर्मों में साथ देती थी, उसने सुयशा को समझाया कि "ये तो राजाधिराज हैं, पुष्पसेन महाराज हैं। महाराज के महल में जाना तेरे लिए सौभाग्य की बात है।" इस तरह उसने और भी बातें कहकर सुयशा को पटाया।

सुयशा कैसे कहती कि 'मैं भजन गाना नहीं जानती हूँ। मैं नहीं आऊँगी...' राज्य में रहती है और महल के अंदर माँ काम करती है। माँ ने भी कहा: "बेटी ! जा। यह वृद्धा कहती है तो जा।"

सुयशा ने कहा: "ठीक है। लेकिन कैसे भी करके ये बेशर्मी के वस्त्र पहनकर तो नहीं जाऊँगी।"

सुयशा सीधे-सादे वस्त्र पहनकर राजमहल में गयी। उसे देखकर पुष्पसेन को धक्का लगा कि 'इसने मेरे भेजे हुए कपड़े नहीं पहने?' दासी ने कहा: "दूसरी बार समझा लूँगी, इस बार नहीं मानी।"

सुयशा का सुयश बाद में फैलेगा, अभी तो अधर्म का पहाड़ गिर रहा था.... धर्म की नन्हीं-सी मोमबत्ती पर अधर्म का पहाड़...! एक तरफ राजसत्ता की आँधी है तो दूसरी तरफ धर्मसत्ता की लौ ! जैसे रावण की राजसत्ता और विभीषण की धर्मसत्ता, दुर्योधन की राजसत्ता और विदुर की धर्मसत्ता ! हिरण्यकशिपु की राजसत्ता और प्रह्लाद की धर्मसत्ता ! धर्मसत्ता और राजसत्ता टकरायी। राजसत्ता चकनाचूर हो गयी और धर्मसत्ता की जय-जयकार हुई और हो रही है ! विक्रम राणा और मीरा.... मीरा की धर्म में दृढ़ता थी। राणा राजसत्ता के बल पर मीरा पर हावी होना चाहता था। दोनों टकराये और विक्रम राणा मीरा के चरणों में गिरा !

धर्मसत्ता दिखती तो सीधी सादी है लेकिन उसकी नींव पाताल में होती है और सनातन सत्य से जुड़ी होती है जबकि राजसत्ता दिखने में बड़ी आडम्बरवाली होती है लेकिन भीतर ढोल की पोल की तरह होती है।

राजदरबार के सेवक ने कहा: "राजाधिराज महाराज पुष्पसेन की जय हो ! हो जाय गाना शुरू।"

पुष्पसेन: "आज तो हम केवल सुयशा का गाना सुनेंगे।"

दासी ने कहा: "सुयशा ! गाओ, राजा स्वयं कह रहे हैं।"

राजा के साथी भी सुयशा का सौन्दर्य नेत्रों के द्वारा पीने लगे और राजा के हृदय में काम-विकार पनपने लगा। सुयशा राजा के दिये वस्त्र पहनकर नहीं आयी, फिर भी उसके शरीर का गठन और ओज-तेज बड़ा सुन्दर लग रहा था। राजा भी सुयशा को चेहरे को निहारे जा रहा था।

कन्या सुयशा ने मन-ही-मन प्रभु से प्रार्थना की: 'प्रभु ! अब तुम्हीं रक्षा करना।'

आपको भी जब धर्म और अधर्म के बीच निर्णय करना पड़े तो धर्म के अधिष्ठानस्वरूप परमात्मा की शरण लेना। वे आपका मंगल ही करते हैं। उन्हींसे पूछना कि 'अब मैं क्या करूँ? अधर्म के आगे झुकना मत। परमात्मा की शरण जाना।

दासी ने सुयशा से कहा: "गाओ, संकोच न करो, देर न करो। राजा नाराज होंगे, गाओ।"

परमात्मा का स्मरण करके सुयशा ने एक राग छेड़ा:

कब सुमिरोगे राम? साधो ! कब सुमिरोगे राम?

अब तुम कब सुमिरोगे राम?

बालपन सब खेल गँवायो, यौवन में काम।

साधो ! कब सुमिरोगे राम? कब सुमिरोगे राम?

पुष्पसेन के मुँह पर मानों, थप्पड़ लगा।

सुयशा ने आगे गाया:

हाथ पाँव जब कंपन लागे, निकल जायेंगे प्राण।

कब सुमिरोगे राम? साधो ! कब सुमिरोगे राम?
झूठी काया झूठी माया, आखिर मौत निशान।
कहत कबीर सुनो भई साधो, जीव दो दिन का मेहमान।
कब सुमिरोगे राम? साधो ! कब सुमिरोगे राम?

भावयुक्त भजन से सुयशा का हृदय तो राम रस से सराबोर हो गया लेकिन पुष्पसेन के रंग में भंग पड़ गया। वह हाथ मसलता ही रह गया। बोला: 'ठीक है, फिर देखता हूँ।'

सुयशा ने विदा ली। पुष्पसेन ने मंत्रियों से सलाह ली और उपाय खोज लिया कि 'अब होली आ रही है उस होलिकोत्सव में इसको बुलाकर इसके सौन्दर्य का पान करेंगे।'

राजा ने होली पर सुयशा को फिर से वस्त्र भिजवाये और दासी से कहा: "कैसे भी करके सुयशा को यही वस्त्र पहनाकर लाना है।"

दासी ने बीसों ऊँगिलियों का जोर लगाया। माँ ने भी कहा: "बेटी ! भगवान तेरी रक्षा करेंगे। मुझे विश्वास है कि तू नीच कर्म करने वाली लड़कियों जैसा न करेगी। तू भगवान की, गुरु की स्मृति रखना। भगवान तेरा कल्याण करें।"

महल में जाते समय इस बार सुयशा ने कपड़े तो पहन लिये लेकिन लाज ढाँकने के लिए ऊपर एक मोटी शाल ओढ़ ली। उसे देखकर पुष्पसेन को धक्का तो लगा, लेकिन यह भी हुआ कि 'चलो, कपड़े तो मेरे पहनकर आयी है।' राजा ऐसी-वैसी युवतियों से होली खेलते-खेलते सुयशा की ओर आया और उसकी शाल खींची। 'हे राम' करके सुयशा आवाज करती हुई भागी। भागते-भागते माँ की गोद में आ गिरी। "माँ, माँ ! मेरी इज्जत खतरे में है। जो प्रजा का पालक है वही मेरे धर्म को नष्ट करना चाहता है।"

माँ: "बेटी ! आग लगे इस नौकरी को।" माँ और बेटी शोक मना रहे हैं। इधर राजा बौखला गया कि 'मेरा अपमान....! मैं देखता हूँ अब वह कैसे जीवित रहती है?' उसने अपने एक खूँखार आदमी कालू मियाँ को बुलवाया और कहा: "कालू ! तुझे स्वर्ग की उस परी सुयशा का खात्मा करना है। आज तक तुझे जिस-जिस व्यक्ति को खत्म करने को कहा है, तू करके आया है। यह तो तेरे आगे मच्छर है मच्छर है ! कालू ! तू मेरा खास आदमी है। मैं तेरा मुँह मोतियों से भर दूँगा। कैसे भी करके सुयशा को उसके राम के पास पहुँचा दे।"

कालू ने सोचा: 'उसे कहाँ पर मार देना ठीक होगा?... रोज प्रभात के अँधेरे में साबरमती नदी में स्नान करने जाती है.... बस, नदी में गला दबोचा और काम खत्म...' 'जय साबरमती' कर देंगे।'

कालू के लिए तो बायें हाथ का खेल था लेकिन सुयशा का इष्ट भी मजबूत था। जब व्यक्ति का इष्ट मजबूत होता है तो उसका अनिष्ट नहीं हो सकता।

मैं सबको सलाह देता हूँ कि आप जप और व्रत करके अपना इष्ट इतना मजबूत करो कि बड़ी-से-बड़ी राजसत्ता भी आपका अनिष्ट न कर सके। अनिष्ट करने वाले के छक्के छूट जायें और वे भी आपके इष्ट के चरणों में आ जायें... ऐसी शक्ति आपके पास है।

कालू सोचता है: 'प्रभात के अँधेरे में साबरमती के किनारे... जरा सा गला दबोचना है, बस। छुरा मारने की जरूरत ही नहीं है। अगर चिल्लायी और जरूरत पड़ी तो गले में जरा-सा छुरा भोंककर 'जय साबरमती' करके

रवाना कर दूँगा। जब राजा अपना है तो पुलिस की ऐसी-तैसी... पुलिस क्या कर सकती है? पुलिस के अधिकारी तो जानते हैं कि राजा का आदमी है।'

कालू ने उसके आने-जाने के समय की जानकारी कर ली। वह एक पेड़ की ओट में छुपकर खड़ा हो गया। ज्यों ही सुयशा आयी और कालू ने झपटना चाहा त्यों ही उसको एक की जगह पर दो सुयशा दिखाई दीं। 'कौन सी सच्ची? ये क्या? दो कैसे? तीन दिन से सारा सर्वेक्षण किया, आज दो एक साथ ! खैर, देखता हूँ, क्या बात है? अभी तो दोनों को नहाने दो....' नहाकर वापस जाते समय उसे एक ही दिखी तब कालू हाथ मसलता है कि 'वह मेरा भ्रम था।'

वह ऐसा सोचकर जहाँ शिवलिंग था उसी के पास वाले पेड़ पर चढ़ गया कि 'वह यहाँ आयेगी अपने बाप को पानी चढ़ाने... तब 'या अल्लाह' करके उस पर कूदूँगा और उसका काम तमाम कर दूँगा।'

उस पेड़ से लगा हुआ बिल्वपत्र का भी एक पेड़ था। सुयशा साबरमती में नहाकर शिवलिंग पर पानी चढ़ाने को आयी। हलचल से दो-चार बिल्वपत्र गिर पड़े। सुयशा बोली: "हे प्रभु ! हे महादेव ! सुबह-सुबह ये जिस बिल्वपत्र जिस निमित्त से गिरे हैं, आज के स्नान और दर्शन का फल मैं उसके कल्याण के निमित्त अर्पण करती हूँ। मुझे आपका सुमिरन करके संसार की चीज नहीं पानी, मुझे तो केवल आपकी भक्ति ही पानी है।"

सुयशा का संकल्प और उस क्रूर-कातिल के हृदय को बदलने की भगवान की अनोखी लीला !

कालू छलाँग मारकर उतरा तो सही लेकिन गला दबोचने के लिए नहीं। कालू ने कहा: "लड़की ! पुष्पसेन ने तेरी हत्या करने का काम मुझे सौंपा था। मैं खुदा की कसम खाकर कहता हूँ कि मैं तेरी हत्या के लिए छुरा तैयार करके आया था लेकिन तू... अनदेखे घातक का भी कल्याण करना चाहती है ! ऐसी हिन्दू कन्या को मारकर मैं खुदा को क्या मुँह दिखाऊँगा? इसलिए आज से तू मेरी बहन है। तू तेरे भैया की बात मान और यहाँ से भाग जा। इससे तेरी भी रक्षा होगी और मेरी भी। जा, ये भोले बाबा तेरी रक्षा करेंगे। जिन भोले बाबा तेरी रक्षा करेंगे, जा, जल्दी भाग जा...."

सुयशा को कालू मियाँ के द्वारा मानों, उसका इष्ट ही कुछ प्रेरणा दे रहा था। सुयशा भागती-भागती बहुत दूर निकल गयी।

जब कालू को हुआ कि 'अब यह नहीं लौटेगी...' तब वह नाटक करता हुआ राजा के पास पहुँचा: "राजन ! आपका काम हो गया वह तो मच्छर थी... जरा सा गला दबाते ही 'मे sss' करती रवाना हो गयी।"

राजा ने कालू को ढेर सारी अशर्कियाँ दीं। कालू उन्हें लेकर विधवा के पास गया और उसको सारी घटना बताते हुए कहा: "माँ ! मैंने तेरी बेटी को अपनी बहन माना है। मैं क्रूर, कामी, पापी था लेकिन उसने मेरा दिल बदल दिया। अब तू नाटक कर की हाय, मेरी बेटी मर गयी... मर गयी..।' इससे तू भी बचेगी, तेरी बेटी भी बचेगी और मैं भी बचूँगा।

तेरी बेटी की इज्जत लूटने का षड्यंत्र था, उसमें तेरी बेटी नहीं फँसी तो उसकी हत्या करने का काम मुझे सौंपा था। तेरी बेटी ने महादेव से प्रार्थना की कि 'जिस निमित्त ये बिल्वपत्र गिरे हैं उसका भी कल्याण हो, मंगल हो।' माँ ! मेरा दिल बदल गया है। तेरी बेटी मेरी बहन है। तेरा यह खूँखार बेटा तुझे प्रार्थना करता है कि

तू नाटक कर ले: 'हाय रेsss ! मेरी बेटी मर गयी। वह अब मुझे नहीं मिलेगी, नदी में डूब गयी...' ऐसा करके तू भी यहाँ से भाग जा।"

सुयशा की माँ भाग निकली। उस कामी राजा ने सोचा कि मेरे राज्य की एक लड़की... मेरी अवज्ञा करे ! अच्छा हुआ मर गयी ! उसकी माँ भी अब ठोकरें खाती रहेगी... अब सुमरती रहे वही राम ! कब सुमिरोगे राम? साधो ! कब सुमिरोगे राम? झूठी काया झूठी माया आखिर मौत निशान ! कब सुमिरोगे राम? साधो ! सब सुमिरोगे राम? हा हा हा हा sss...'

मजाक-मजाक में गाते-गाते भी यह भजन उसके अचेतन मन में गहरा उतर गया... कब सुमिरोगे राम? उधर सुयशा को भागते-भागते रास्ते में माँ काली का एक छोटा-सा मंदिर मिला। उसने मंदिर में जाकर प्रणाम किया। वहाँ की पुजारिन गौतमी ने देखा कि क्या रूप है, क्या सौन्दर्य है और कितनी नम्रता ! उसने पूछा: "बेटी ! कहाँ से आयी हो?"

सुयशा ने देखा कि एक माँ तो छूटी, अब दूसरी माँ बड़े प्यार से पूछ रही है... सुयशा रो पड़ी और बोली: "मेरा कोई नहीं है। अपने प्राण बचाने के लिए मुझे भागना पड़ा।" ऐसा कहकर सुयशा ने सब बता दिया।

गौतमी: "ओ हो sss... मुझे संतान नहीं थी। मेरे भोले बाबा ने, मेरी काली माँ ने मेरे घर 16 वर्ष की पुत्री भेज दी।" बेटी... बेटी ! कहकर गौतमी ने सुयशा को गले लगा लिया और अपने पति कैलाशनाथ को बताया कि "आज हमें भोलानाथ ने 16 वर्ष की सुन्दरी कन्या दी है। कितनी पवित्र है। कितनी भक्ति भाववाली है।"

कैलाशनाथ: "गौतमी ! पुत्री की तरह इसका लालन-पालन करना, इसकी रक्षा करना। अगर इसकी मर्जी होगी तो इसका विवाह करेंगे नहीं तो यहीं रहकर भजन करे।"

जो भगवान का भजन करते हैं उनको विघ्न डालने से पाप लगता है।

सुयशा वहीं रहने लगी। वहाँ एक साधु आता था। साधु भी बड़ा विचित्र था। लोग उसे 'पागलबाबा' कहते थे। पागलबाबा ने कन्या को देखा तो बोल पड़े: 'हूँsss...'

गौतमी घबरायी कि "एक शिकंजे से निकलकर कहीं दूसरे में....? पागलबाबा कहीं उसे फँसा न दे.... हे भगवान ! इसकी रक्षा करना।" स्त्री का सबसे बड़ा शत्रु है उसका सौन्दर्य एवं श्रृंगार दूसरा है उसकी असावधानी। सुयशा श्रृंगार तो करती नहीं थी, असावधान भी नहीं थी लेकिन सुन्दर थी।

गौतमी ने अपने पति को बुलाकर कहा:

"देखो, ये बाबा बार-बार अपनी बेटी की तरफ देख रहे हैं।"

कैलाशनाथ ने भी देखा। बाबा ने लड़की को बुलाकर पूछा: "क्या नाम है?"

"सुयशा।"

"बहुत सुन्दर हो, बड़ी खूबसूरत हो।"

पुजारिन और पुजारी घबराये।

बाबा ने फिर कहा: "बड़ी खूबसूरत है।"

कैलाशनाथ: "महाराज ! क्या है?"

"बड़ी खूबसूरत है।"

"महाराज आप तो संत आदमी हैं।"

"तभी तो कहता हूँ कि बड़ी खूबसूरत है, बड़ी होनहार है। मेरी होगी तू?"

पुजारिन-पुजारी और घबराये कि 'बाबा क्या कह रहे हैं? पागल बाबा कभी कुछ कहते हैं वह सत्य भी हो जाता है। इनसे बचकर रहना चाहिए। क्या पता कहीं....'

कैलाशनाथ: "महाराज ! क्या बोल रहे हैं।"

बाबा ने सुयशा से फिर पूछा: "तू मेरी होगी?"

सुयशा: "बाबा मैं समझी नहीं।"

"तू मेरी साधिका बनेगी? मेरे रास्ते चलेगी?"

"कौन-सा रास्ता?"

"अभी दिखाता हूँ। माँ के सामने एकटक देख.... माँ ! तेरे रास्ते ले जा रहा हूँ, चलती नहीं है तो तू समझा माँ, माँ !"

लड़की को लगा कि 'ये सचमुच पागल हैं।'

'चल' करके दृष्टि से ही लड़की पर शक्तिपात कर दिया। सुयशा के शरीर में स्पंदन होने लगा, हास्य आदि अष्टसात्विक भाव उभरने लगे।

पागलबाबा ने कैलाशनाथ और गौतमी से कहा: "यह बड़ी खूबसूरत आत्मा है। इसके बाह्य सौन्दर्य पर राजा मोहित हो गया था। यह प्राण बचाकर आयी है और बच पायी है। तुम्हारी बेटी है तो मेरी भी तो बेटी है। तुम चिन्ता न करो। इसको घर पर अलग कमरे में रहने दो। उस कमरे में और कोई न जाय। इसकी थोड़ी साधना होने दो फिर देखो क्या-क्या होता है? इसकी सुषुप्त शक्तियों को जगने दो। बाहर से पागल दिखता हूँ लेकिन 'गल' को पाकर घूमता हूँ, बच्चे।"

"महाराज आप इतने सामर्थ्य के धनी हैं यह हमें पता नहीं था। निगाहमात्र से आपने संप्रेक्षण शक्ति का संचार कर दिया।"

अब तो सुयशा का ध्यान लगने लगा। कभी हँसती है, कभी रोती है। कभी दिव्य अनुभव होते हैं। कभी प्रकाश दिखता है, कभी अजपा जप चलता है कभी प्राणायाम से नाड़ी-शोधन होता है। कुछ ही दिनों में मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर केन्द्र जाग्रत हो गये।

मूलाधार केन्द्र जागृत हो तो काम राम में बदलता है, क्रोध क्षमा में बदलता है, भय निर्भयता में बदलता है, घृणा प्रेम में बदलती है। स्वाधिष्ठान केन्द्र जागृत होता है तो कई सिद्धियाँ आती हैं। मणिपुर केन्द्र जाग्रत हो तो अपढ़े, अनसुने शास्त्र को जरा सा देखें तो उस पर व्याख्या करने का सामर्थ्य आ जाता है।

आपके से ये सभी केन्द्र अभी सुषुप्त हैं। अगर जग जायें तो आपके जीवन में भी यह चमक आ सकती है। हम स्कूली विद्या तो केवल तीसरी कक्षा तक पढ़े हैं लेकिन ये केन्द्र खुलने के बाद देखो, लाखों-करोड़ों लोग सत्संग सुन रहे हैं, खूब लाभान्वित हो रहे हैं। इन केन्द्रों में बड़ा खजाना भरा पड़ा है।

इस तरह दिन बीते..... सप्ताह बीते.. महीने बीते। सुयशा की साधना बढ़ती गयी.... अब तो वह बोलती है तो लोगों के हृदयों को शांति मिलती है। सुयशा का यश फैला.... यश फैलते-फैलते साबरमती के जिस पार से वह आयी थी, उस पार पहुँचा। लोग उसके पास आते-जाते रहे..... एक दिन कालू मियाँ ने पूछा: "आप लोग इधर से उधर उस पार जाते हो और एक दो दिन के बाद आते हो क्या बात है?"

लोगों ने बताया: "उस पार माँ भद्रकाली का मंदिर है, शिवजी का मंदिर है। वहाँ पागलबाबा ने किसी लड़की से कहा: 'तू तो बहुत सुन्दर है, संयमी है।' उस पर कृपा कर दी ! अब वह जो बोलती है उसे सुनकर हमें बड़ी शांति मिलती है, बड़ा आनंद मिलता है।"

"अच्छा, ऐसी लड़की है?"

"उसको लड़की-लड़की मत कहो कालू मियाँ ! लोग उसको माता जी कहते हैं। पुजारिन और पुजारी भी उसको 'माताजी-माताजी' कहते हैं। क्या पता कहाँ से वह स्वर्ग को देवी आयी है?"

"अच्छा तो अपन भी चलते हैं।"

कालू मियाँ ने आकर देखा तो.... "जिस माताजी को लोग मत्था टेक रहे हैं वह वही सुयशा है, जिसको मारने के लिए मैं गया था और जिसने मेरा हृदय परिवर्तित कर दिया था।"

जानते हुए भी कालू मियाँ अनजान होकर रहा, उसके हृदय को बड़ी शांति मिली। इधर पुष्पसेन को मानसिक खिन्नता, अशांति और उद्वेग हो गया। भक्त को कोई सताता है तो उसका पुण्य नष्ट हो जाता है, इष्ट कमजोर हो जाता है और देर-सवेर उसका अनिष्ट होना शुरू हो जाता है।

संत सताये तीनों जायें तेज, बल और वंश।

पुष्पसेन को मस्तिष्क का बुखार आ गया। उसके दिमाग में सुयशा की वे ही पंक्तियाँ घूमने लगीं-

कब सुमिरोगे राम? साधो ! कब सुमिरोगे राम....

उन पंक्तियों को गाते-गाते वह रो पड़ा। हकीम, वैद्य सबने हाथ धो डाले और कहा: "राजन ! अब हमारे वश की बात नहीं है।"

कालू मियाँ को हुआ: 'यह चोट जहाँ से लगी है वहीं से ठीक हो सकती है।' कालू मिलने गया और पूछा: "राजन् ! क्या बात है?"

"कालू ! कालू ! वह स्वर्ग की परी कितना सुन्दर गाती थी। मैंने उसकी हत्या करवा दी। मैं अब किसको बताऊँ? कालू ! अब मैं ठीक नहीं हो सकता हूँ। कालू ! मेरे से बहुत बड़ी गलती हो गयी !"

"राजन ! अगर आप ठीक हो जायें तो?"

"अब नहीं हो सकता। मैंने उसकी हत्या करवा दी है, कालू उसने कितनी सुन्दर बात कही थी:

झूठी काया झूठी माया आखिर मौत निशान !

कहत कबीर सुनो भई साधो, जीव दो दिन का मेहमान।

कब सुमिरोगे राम? साधो ! कब सुमिरोगे राम?

और मैंने उसकी हत्या करवा दी। कालू ! मेरा दिल जल रहा है। कर्म करते समय पता नहीं चलता, कालू ! बाद में अन्दर की लानत से जीव तप मरता है। कर्म करते समय यदि यह विचार किया होता तो ऐसा नहीं होता। कालू ! मैंने कितने पाप किये हैं।"

कालू का हृदय पसीजा की इस 'राजा को अगर उस देवी की कृपा मिल जाये तो ठीक हो सकता है। वैसे यह राज्य तो अच्छा चलाना जानता है, दबंग है। पापकर्म के कारण इसको जो दोष लगा है वह अगर धुल जाये तो....'

कालू बोला: "राजन् ! अगर वह लड़की कहीं मिल जाये तो?"

"कैसे मिलेगी?"

"जीवनदान मिले तो मैं बताऊँ। अब वह लड़की, लड़की नहीं रही। पता नहीं, साबरमती माता ने उसको कैसे गोद में ले लिया और वह जोगन बन गयी है। लोग उसके कदमों में अपना सिर झुकाते हैं।"

"हैं.... क्या बोलता है? जोगन बन गयी है? वह मरी नहीं है?"

"नहीं।"

"तूने तो कहा था मर गयी?"

"मैंने तो गला दबाया और समझा मर गयी होगी लेकिन आगे निकल गयी, कहीं चली गयी और किसी साधु बाबा की मेहरबानी हो गयी और मेरे को लगता है कि रूपये में 15 आना पक्की बात है कि वही सुयशा है। जोगन का और उसका रूप मिलता है।"

"कालू ! मुझे ले चल। मैं उसके कदमों में अपने दुर्भाग्य को सौभाग्य में बदलना चाहता हूँ। कालू ! कालू!"

राज पहुँचा और उसने पश्चात्ताप के आँसुओं से सुयशा के चरण धो दिये। सुयशा ने कहा: "भैया ! इन्सान गलतियों का घर है, भगवान तुम्हारा मंगल करें।"

पुष्पसेन: "देवी ! मेरा मंगल भगवान कैसे करेंगे? भगवान मंगल भी करेंगे तो किसी गुरु के द्वारा। देवी ! तू मेरी गुरु है, मैं तेरी शरण आया हूँ।"

राजा पुष्पसेन सुयशा के चरणों में गिरा। वही सुयशा का प्रथम शिष्य बना। पुष्पसेन को सुयशा ने गुरुमंत्र की दीक्षा दी। सुयशा की कृपा पाकर पुष्पसेन भी धनभागी हुआ और कालू भी ! दूसरे लोग भी धनभागी हुए। 17वीं शताब्दी का कर्णावती शहर जिसको आज अमदावाद बोलते हैं, वहाँ की यह एक ऐतिहासिक घटना है, सत्य कथा है।

अगर उस 16 वर्षीय कन्या में धर्म के संस्कार नहीं होते तो नाच-गान करके राजा का थोड़ा प्यार पाकर स्वयं भी नरक में पच मरती और राजा भी पच मरता। लेकिन उस कन्या ने संयम रखा तो आज उसका शरीर तो नहीं है लेकिन सुयशा का सुयश यह प्रेरणा जरूर देता है कि आज की कन्याएँ भी अपने ओज-तेज और संयम की रक्षा करके, अपने ईश्वरीय प्रभाव को जगाकर महान आत्मा हो सकती हैं।

रानी: "नाथ ! मैंने बाल्यकाल में दुर्वासा ऋषि से शिवमंत्र लिया था। उसे जपने से मेरी सात्त्विक ऊर्जा का विकास हुआ है, इसीलिए मैं आपके नजदीक नहीं आती थी। जैसे अंधेरी रात और दोपहर एक साथ नहीं रहते, वैसे ही आपने शराब पीनेवाली वेश्याओं के साथ और कुलटाओं के साथ जो संसार-भोग भोगे हैं उससे आपके पाप के कण आपके शरीर, मन तथा बुद्धि में अधिक हैं और मैंने जप किया है उसके कारण मेरे शरीर में ओज, तेज व आध्यात्मिक कण अधिक हैं। इसीलिए मैं आपसे थोड़ी दूर रहकर प्रार्थना करती थी। आप बुद्धिमान हैं, बलवान हैं, यशस्वी हैं और धर्म की बात भी आपने सुन रखी है, लेकिन आपने शराब पीनेवाली वेश्याओं और कुलटाओं के साथ भोग भी भोगे हैं।"

राजा: "तुम्हें इस बात का पता कैसे चल गया?"

रानी: "नाथ ! हृदय शुद्ध होता है तो यह ख्याल आ जाता है।"

राजा प्रभावित हुआ और रानी से बोला: "तुम मुझे भी भगवान शिव का वह मंत्र दे दो।"

रानी: "आप मेरे पति हैं, मैं आपकी गुरु नहीं बन सकती। आप और हम गर्गाचार्य महाराज के पास चलें।"

दोनों गर्गाचार्य के पास गये एवं उनसे प्रार्थना की। गर्गाचार्य ने उन्हें स्नान आदि से पवित्र होने के लिए कहा और यमुना तट पर अपने शिवस्वरूप के ध्यान में बैठकर उन्हें निगाह से पावन किया, फिर शिवमंत्र देकर शांभवी दीक्षा से राजा के ऊपर शक्तिपात किया।

कथा कहती है कि देखते ही देखते राजा के शरीर से कोटि-कोटि कौए निकल-निकल कर पलायन करने लगे। काले कौए अर्थात् तुच्छ परमाणु। काले कर्मों के तुच्छ परमाणु करोड़ों की संख्या में सूक्ष्मदृष्टि के द्रष्टाओं द्वारा देखे गये। सच्चे संतों के चरणों में बैठकर दीक्षा लेने वाले सभी साधकों को इस प्रकार के लाभ होते ही हैं। मन, बुद्धि में पड़े हुए तुच्छ कुसंस्कार भी मिटते हैं। आत्म-परमात्मप्राप्ति की योग्यता भी निखरती है। व्यक्तिगत जीवन में सुख शांति, सामाजिक जीवन में सम्मान मिलता है तथा मन-बुद्धि में सुहावने संस्कार भी पड़ते हैं और भी अनगिनत लाभ होते हैं जो निगुरे, मनमुख लोगों की कल्पना में भी नहीं आ सकते। मंत्रदीक्षा के प्रभाव से हमारे पाँचों शरीरों के कुसंस्कार व काले कर्मों के परमाणु क्षीण होते जाते हैं। थोड़ी ही देर में राजा निर्भर हो गया एवं भीतर के सुख से भर गया।

शुभ-अशुभ, हानिकारक एवं सहायक जीवाणु हमारे शरीर में रहते हैं। जैसे पानी का गिलास हॉठ पर रखकर वापस लायें तो उस पर लाखों जीवाणु पाये जाते हैं यह वैज्ञानिक अभी बोलते हैं। लेकिन शास्त्रों ने तो लाखों वर्ष पहले ही कह दिया:

सुमति-कुमति सबके उर रहहिं।

जब आपके अंदर अच्छे विचार रहते हैं तब आप अच्छे काम करते हैं और जब भी हलके विचार आ जाते हैं तो आप न चाहते हुए भी गलत कर बैठते हैं। गलत करने वाला कई बार अच्छा भी करता है तो मानना पड़ेगा कि मनुष्य-शरीर पुण्य और पाप का मिश्रण है। आपका अंतःकरण शुभ और अशुभ का मिश्रण है। जब आप लापरवाह होते हैं तो अशुभ बढ़ जाते हैं अतः पुरुषार्थ यह करना है कि अशुभ क्षीण होता जाय और शुभ पराकाष्ठा तक परमात्म-प्राप्ति तक पहुँच जाय।

अनुक्रम

ब्रह्मवादिनी विदुषी गार्गी

ब्रह्मवादिनी विदुषी गार्गी का नाम वैदिक साहित्य में अत्यंत विख्यात है। उनका असली नाम क्या था, यह तो ज्ञात नहीं है किंतु उनके पिता का नाम वचक्नु था। अतः वचक्नु की पुत्री होने के कारण उनका नाम 'वाचक्नवी' पड़ गया। गर्ग गोत्र में उत्पन्न होने के कारण लोग उन्हें गार्गी कहते थे। यह गार्गी नाम ही जनसाधारण से प्रचलित हुआ।

बृहदारण्यक उपनिषद् में गार्गी के शास्त्रार्थ का प्रसंग वर्णित है:

विदेह देश के राजा जनक ने एक बहुत बड़ा ज्ञानयज्ञ किया था। उसमें कुरु और पांचाल देश के अनेकों विद्वान् ब्राह्मण एकत्रित हुए थे। राजा जनक बड़े विद्या-व्यासंगी एवं सत्संगी थे। उन्हें शास्त्र के गूढ तत्त्वों का विवेचन एवं परमार्थ-चर्चा ही अधिक प्रिय थी। इसलिए उनके मन में यह जानने की इच्छा हुई कि यहाँ आये हुए विद्वान् ब्राह्मणों में सबसे बढ़कर तात्त्विक विवेचन करने वाला कौन है? इस परीक्षा के लिए उन्होंने अपनी गौशाला में एक हजार गौएँ बँधवा दीं। सब गौओं के सींगों पर दस-दस पाद (एक प्राचीन माप-कर्ष) सुवर्ण बँधा हुआ था। यह व्यवस्था करके राजा जनक ने उपस्थित ब्राह्मण-समुदाय से कहा:

"आप लोगों में से जो सबसे बढ़कर ब्रह्मवेत्ता हो, वह इन सभी गौओं को ले जाये।"

राजा जनक की यह घोषणा सुनकर किसी भी ब्राह्मण में यह साहस नहीं हुआ कि उन गौओं को ले जाय। सब सोचने लगे कि 'यदि हम गौएँ ले जाने को आगे बढ़ते हैं तो ये सभी ब्राह्मण हमें अभिमानी समझेंगे और शास्त्रार्थ करने लगेंगे। उस समय हम इन सबको जीत सकेंगे या नहीं, क्या पता? यह विचार करते हुए सब चुपचाप ही बैठे रहे।

सबको मौन देखकर याज्ञवल्क्यजी ने अपने ब्रह्मचारी सामश्रवा से कहा: "हे सौम्य ! तू इन सब गौओं को हाँक ले चल।"

ब्रह्मचारी ने आज्ञा पाकर वैसा ही किया। यह देखकर सब ब्राह्मण क्षुब्ध हो उठे। तब विदेहराज जनक के होता अश्वल याज्ञवल्क्यजी से पूछ बैठे: "क्यों? क्या तुम्हीं ब्रह्मनिष्ठ हो? हम सबसे बढ़कर ब्रह्मवेत्ता हो?"

यह सुनकर याज्ञवल्क्यजी ने नम्रतापूर्वक कहा:

"नहीं, ब्रह्मवेत्ताओं को तो हम नमस्कार करते हैं। हमें केवल गौओं की आवश्यकता है, अतः गौओं को ले जाते हैं।"

फिर क्या था? शास्त्रार्थ आरंभ हो गया। यज्ञ का प्रत्येक सदस्य याज्ञवल्क्यजी से प्रश्न पूछने लगा। याज्ञवल्क्यजी इससे विचलित नहीं हुए। वे धैर्यपूर्वक सभी के प्रश्नों का क्रमशः उत्तर देने लगे। अश्वल ने चुन-चुनकर कितने ही प्रश्न किये, किंतु उचित उत्तर मिल जाने के कारण वे चुप होकर बैठ गये। तब जरत्कारु गोत्र में उत्पन्न आर्तभाग ने प्रश्न किया। उनको भी अपने प्रश्न का यथार्थ उत्तर मिल गया, अतः वे भी मौन हो गये। फिर क्रमशः लाह्यायनि भुज्यु, चाक्रायम उषस्त एवं कौषीतकेय कहोल प्रश्न करके चुप होकर बैठ गये। इसके बाद

वाचकनवी गार्गी ने पूछा: "भगवन ! यह जो कुछ पार्थिव पदार्थ हैं, वे सब जल में ओत प्रोत हैं। जल किसमें ओतप्रोत है?"

याज्ञवल्क्यजी: "जल वायु में ओतप्रोत है।"

"वायु किसमें ओतप्रोत है?"

"अन्तरिक्षलोक में।"

"अन्तरिक्षलोक किसमें ओतप्रोत है?"

"गन्धर्वलोक में।"

"गन्धर्वलोक किसमें ओतप्रोत है?"

"आदित्यलोक में।"

"आदित्यलोक किसमें ओतप्रोत है?"

"चन्द्रलोक में।"

"चन्द्रलोक किसमें ओतप्रोत है?"

"नक्षत्रलोक में।"

"नक्षत्रलोक किसमें ओतप्रोत है?"

"देवलोक में।"

"देवलोक किसमें ओतप्रोत है?"

"इन्द्रलोक में।"

"इन्द्रलोक किसमें ओतप्रोत है?"

"प्रजापतिलोक में।"

"प्रजापतिलोक किसमें ओतप्रोत है?"

"ब्रह्मलोक में।"

"ब्रह्मलोक किसमें ओतप्रोत है?"

इस पर याज्ञवल्क्यजी ने कहा: "हे गार्गी ! यह तो अतिप्रश्न है। यह उत्तर की सीमा है। अब इसके आगे प्रश्न नहीं हो सकता। अब तू प्रश्न न कर, नहीं तो तेरा मस्तक गिर जायेगा।"

गार्गी विदुषी थीं। उन्होंने याज्ञवल्क्यजी के अभिप्राय को समझ लिया एवं मौन हो गयीं। तदनन्तर आरुणि आदि विद्वानों ने प्रश्नोत्तर किये। इसके पश्चात् पुनः गार्गी ने समस्त ब्राह्मणों को संबोधित करते हुए कहा: "यदि आपकी अनुमति प्राप्त हो जाय तो मैं याज्ञवल्क्यजी से दो प्रश्न पूछूँ। यदि वे उन प्रश्नों का उत्तर दे देंगे तो आप लोगों में से कोई भी उन्हें ब्रह्मचर्या में नहीं जीत सकेगा।"

ब्राह्मणों ने कहा: "पूछ लो गार्गी !"

तब गार्गी बोली: "याज्ञवल्क्यजी ! वीर के तीर के समान ये मेरे दो प्रश्न हैं। पहला प्रश्न है: द्युलोक के ऊपर, पृथ्वी का निम्न, दोनों का मध्य, स्वयं दोनों और भूत भविष्य तथा वर्तमान किसमें ओतप्रोत हैं?"

याज्ञवल्क्यजी: "आकाश में।"

सावित्री बोली: "सत्पुरुषों का संग एक बार भी मिल जाये तो वह अभीष्ट की पूर्ति कराने वाला होता है और यदि उनसे प्रेम हो जाये तो फिर कहना ही क्या? संत-समागम कभी निष्फल नहीं जाता। अतः सदा सत्पुरुषों के साथ ही रहना चाहिए।

देव ! आप सारी प्रजा का नियमन करने वाले हैं, अतः 'यम' कहलाते हैं। मैंने सुना है कि मन, वचन और कर्म द्वारा किसी भी प्राणी के प्रति द्रोह न करके सब पर समान रूप से दया करना और दान देना श्रेष्ठ पुरुषों का सनातन धर्म है। यों तो संसार के सभी लोग सामान्यतः कोमलता का बर्ताव करते हैं किंतु जो श्रेष्ठ पुरुष हैं, वे अपने पास आये हुए शत्रु पर भी दया ही करते हैं।"

यमराज: "कल्याणी ! जैसे प्यासे को पानी मिलने से तृप्ति होती है, उसी प्रकार तेरी धर्मानुकूल बातें सुनकर मुझे प्रसन्नता होती है।"

सावित्री ने आगे कहा: "विवस्वान (सूर्यदेव) के पुत्र होने के नाते आपको 'वैवस्वत' कहते हैं। आप शत्रु-मित्र आदि के भेद को भुलाकर सबके प्रति समान रूप से न्याय करते हैं और आप 'धर्मराज' कहलाते हैं। अच्छे मनुष्यों को सत्य पर जैसा विश्वास होता है, वैसा अपने पर भी नहीं होता। अतएव वे सत्य में ही अधिक अनुराग रखते हैं विश्वास की सौहार्द का कारण है तथा सौहार्द ही विश्वास का। सत्पुरुषों का भाव सबसे अधिक होता है, इसलिए उन पर सभी विश्वास करते हैं।"

यमराज: "सावित्री ! तूने जो बातें कही हैं वैसी बातें मैंने और किसी के मुँह से नहीं सुनी हैं। अतः मेरी प्रसन्नता और भी बढ़ गयी है। अच्छा, अब तू बहुत दूर चली आयी है। जा, लौट जा।"

फिर भी सावित्री ने अपनी धार्मिक चर्चा बंद नहीं की। वह कहती गयी: "सत्पुरुषों का मन सदा धर्म में ही लगा रहता है। सत्पुरुषों का समागम कभी व्यर्थ नहीं जाता। संतों से कभी किसी को भय नहीं होता। सत्पुरुष सत्य के बल से सूर्य को भी अपने समीप बुला लेते हैं। वे ही अपने प्रभाव से पृथ्वी को धारण करते हैं। भूत भविष्य का आधार भी वे ही हैं। उनके बीच में रहकर श्रेष्ठ पुरुषों को कभी खेद नहीं होता। दूसरों की भलाई करना सनातन सदाचार है, ऐसा मानकर सत्पुरुष प्रत्युपकार की आशा न रखते हुए सदा परोपकार में ही लगा रहते हैं।"

सावित्री की बातें सुनकर यमराज द्रवीभूत हो गये और बोले: "पतिव्रते ! तेरी ये धर्मानुकूल बातें गंभीर अर्थ से युक्त एवं मेरे मन को लुभाने वाली हैं। तू ज्यों-ज्यों ऐसी बातें सुनाती जाती है, त्यों-त्यों तेरे प्रति मेरा स्नेह बढ़ता जाता है। अतः तू मुझसे कोई अनुपम वरदान माँग ले।"

सावित्री: "भगवन् ! अब तो आप सत्यवान के जीवन का ही वरदान दीजिए। इससे आपके ही सत्य और धर्म की रक्षा होगी। पति के बिना तो मैं सुख, स्वर्ग, लक्ष्मी तथा जीवन की भी इच्छा नहीं रखती।"

धर्मराज वचनबद्ध हो चुके थे। उन्होंने सत्यवान को मृत्युपाश से मुक्त कर दिया और उसे चार सौ वर्षों की नवीन आयु प्रदान की। सत्यवान के पिता द्युमत्सेन की नेत्रज्योति लौट आयी एवं उन्हें अपना खोया हुआ राज्य भी वापस मिल गया। सावित्री के पिता को भी समय पाकर सौ संताने हुईं एवं सावित्री ने भी अपने पति सत्यवान के साथ धर्मपूर्वक जीवन-यापन करते हुए राज्य-सुख भोगा।

ईर्ष्या-द्वेष और अति धन-संग्रह से मनुष्य अशांत होता है। ईर्ष्या-द्वेष की जगह पर क्षमा और सत्प्रवृत्ति का हिस्सा बढ़ा दिया जाय तो कितना अच्छा !

दुर्योधन ईर्ष्यालु था, द्वेषी था। उसने तीन महीने तक दुर्वासा ऋषि की भली प्रकार से सेवा की, उनके शिष्यों की भी सेवा की। दुर्योधन की सेवा से दुर्वासा ऋषि प्रसन्न हो गये और बोले:

"माँग ले वत्स ! जो माँगना चाहे माँग ले।"

जो ईर्ष्या और द्वेष के शिकंजे में आ जाता है, उसका विवेक उसे साथ नहीं देता लेकिन जो ईर्ष्या-द्वेष रहित होता है उसका विवेक सजग रहता है वह शांत होकर विचार या निर्णय करता है। ऐसा व्यक्ति सफल होता है और सफलता के अहं में गरक नहीं होता। कभी असफल भी हो गया तो विफलता के विवाद में नहीं डूबता। दुष्ट दुर्योधन ने ईर्ष्या एवं द्वेष के वशीभूत होकर कहा:

"मेरे भाई पाण्डव वन में दर-दर भटक रहे हैं। उनकी इच्छा है कि आप अपने हजार शिष्यों के साथ उनके अतिथी हो जायें। अगर आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो मेरे भाइयों की इच्छा पूरी करें लेकिन आप उसी वक्त उनके पास पहुँचियेगा। जब द्रौपदी भोजन कर चुकी हो।"

दुर्योधन जानता था कि "भगवान सूर्य ने पाण्डवों को अक्षयपात्र दिया है। उसमें से तब तक भोजन-सामग्री मिलती रहती है, जब तक द्रौपदी भोजन न कर ले। द्रौपदी भोजन करके पात्र को धोकर रख दे फिर उस दिन उसमें से भोजन नहीं निकलेगा। अतः दोपहर के बाद जब दुर्वासाजी उनके पास पहुँचेंगे, तब भोजन न मिलने से कुपित हो जायेंगे और पाण्डवों को शाप दे देंगे। इससे पाण्डव वंश का सर्वनाश हो जायेगा।"

इस ईर्ष्या और द्वेष से प्रेरित होकर दुर्योधन ने दुर्वासाजी की प्रसन्नता का लाभ उठाना चाहा।

दुर्वासा ऋषि मध्याह्न के समय जा पहुँचे पाण्डवों के पास। युधिष्ठिर आदि पाण्डव एवं द्रौपदी दुर्वासाजी को शिष्यों समेत अतिथि के रूप में आया हुआ देखकर चिन्तित हो गये। फिर भी बोले: "विराजिये महर्षि ! आपके भोजन की व्यवस्था करते हैं।"

अंतर्यामी परमात्मा सबका सहायक है, सच्चे का मददगार है। दुर्वासाजी बोले: "ठहरो ठहरो.... भोजन बाद में करेंगे। अभी तो यात्रा की थकान मिटाने के लिए स्नान करने जा रहा हूँ।"

इधर द्रौपदी चिन्तित हो उठी कि अब अक्षयपात्र से कुछ न मिल सकेगा और इन साधुओं को भूखा कैसे भेजें? उनमें भी दुर्वासा ऋषि को ! वह पुकार उठी: "हे केशव ! हे माधव ! हे भक्तवत्सल ! अब मैं तुम्हारी शरण में हूँ...." शांत चित्त एवं पवित्र हृदय से द्रौपदी ने भगवान श्रीकृष्ण का चिन्तन किया। भगवान श्रीकृष्ण आये और बोले: "द्रौपदी ! कुछ खाने को तो दो !"

द्रौपदी: "केशव ! मैंने तो पात्र को धोकर रख दिया है।"

श्री कृष्ण: "नहीं, नहीं... लाओ तो सही ! उसमें जरूर कुछ होगा।"

द्रौपदी ने पात्र लाकर रख दिया तो दैवयोग से उसमें तांदुल के साग का एक पत्ता बच गया था। विश्वात्मा श्रीकृष्ण ने संकल्प करके उस तांदुल के साग का पत्ता खाया और तृप्ति का अनुभव किया तो उन महात्माओं को भी तृप्ति का अनुभव हुआ वे कहने लगे कि: "अब तो हम तृप्त हो चुके हैं, वहाँ जाकर क्या खायेंगे? युधिष्ठिर को क्या मुँह दिखायेंगे?"

चिन्ता करने की जरूरत नहीं है। ये बादल तुम्हें भिगोयेंगे नहीं। ये तो गुण मंजरी देवी की तपस्या और संकल्प का प्रभाव है।"

संत की बात का उल्लंघन करना मुक्तिफल को त्यागना और नरक के द्वार खोलना है। लोग बैठे रहे।

32 राग और 64 रागिनियाँ हैं। राग और रागिनियाँ के पीछे उनके अर्थ और आकृतियाँ भी होती हैं। शब्द के द्वारा सृष्टि में उथल-पुथल मच सकती है। वे निर्जीव नहीं हैं, उनमें सजीवता है। जैसे 'एयर कंडीशनर' चलाते हैं तो वह आपको हवा से पानी अलग करके दिखा देता है, ऐसे ही इन पाँच भूतों में स्थित दैवी गुणों को जिन्होंने साध लिया है, वे शब्द की ध्वनि के अनुसार बुझे दीप जला सकते हैं, दृष्टि कर सकते हैं - ऐसे कई प्रसंग आपने-हमने-देखे-सुने होंगे। गुणमंजरी देवी इस प्रकार की साधना से सम्पन्न देवी थी।

माहौल श्रद्धा-भक्ति और संयम की पराकाष्ठा पर था। गुणमंजरी देवी ने वीणा बजाते हुए आकाश की ओर निहारा। घनघोर बादलों में से बिजली की तरह एक देवांगना प्रकट हुई। वातावरण संगीतमय-नृत्यमय होता जा रहा था। लोग दंग रह गये ! आश्चर्य को भी आश्चर्य के समुद्र में गोते खाने पड़े, ऐसा माहौल बन गया !

लोग भीतर ही भीतर अपने सौभाग्य की सराहना किये जा रहे थे। मानों, उनकी आँखें उस दृश्य को पी जाना चाहती थीं। उनके कान उस संगीत को पचा जाना चाहते थे। उनका जीवन उस दृश्य के साथ एक रूप होता जा रहा था.... 'गुणमंजरी, धन्य हो तुम !' कभी वे गुणमंजरी को को धन्यवाद देते हुए उसके गीत में खो जाते और कभी उस देवांगना के शुद्ध पवित्र नृत्य को देखकर नतमस्तक हो उठते !

कार्यक्रम सम्पन्न हुआ। देखते ही देखते गुणमंजरी देवी ने देवांगना को विदाई दी। सबके हाथ जुड़े हुए थे, आँखें आसमान की ओर निहार रही थीं और दिल अहोभाव से भरा था। मानों, प्रभु-प्रेम में, प्रभु की अदभुत लीला में खोया-सा था.....

श्रृंगेरी मठाधीश श्री सोमनाथाचार्यजी ने हजारों लोगों की शांत भीड़ से कहा: "सज्जनो ! इसमें आश्चर्य की कोई आवश्यकता नहीं है। हमारे पूर्वज देवलोक से भारतभूमि पर आते और संयम, साधना तथा भगवत्प्रीति के प्रभाव से अपने वांछित दिव्य लोकों तक की यात्रा करने में सफल होते थे। कोई-कोई ब्रह्मस्वरूप परमात्मा का श्रवण, मनन, निदिध्यासन करके यहीं ब्रह्ममय अनन्त ब्रह्माण्डव्यापी अपने आत्म-ऐश्वर्य को पा लेते थे।

समय के फेर से लोग सब भूलते गये। अनुचित खान-पान, स्पर्श-दोष, संग-दोष, विचार-दोष आदि से लोगों की मति और सात्त्विकता मारी गयी। लोगों में छल कपट और तमस बढ़ गया, जिससे वे दिव्य लोकों की बात ही भूल गये, अपनी असलियत को ही भूल गये..... गुणमंजरी देवी ने संग दोष से बचकर संयम से साधन-भजन किया तो उसका देवत्व विकसित हुआ और उसने देवांगना को बुलाकर तुम्हें अपनी असलियत का परिचय दिया !

तुम भी इस दृश्य को देखने के काबिल तब हुए, जब तुमने कुंभ के इस पर्व पर, प्रयागराज के पवित्र तीर्थ में संयम और श्रद्धा-भक्ति से स्नान किया। इसके प्रभाव से तुम्हारे कुछ कल्मष कटे और पुण्य बढ़े। पुण्यात्मा लोगों के एकत्रित होने से गुणमंजरी देवी के संकल्प में सहायता मिली और उसने तुम्हें यह दृश्य दिखाया। अतः इसमें आश्चर्य न करो।"

जाता है। उसको देखनेवाला मेरा राम, मेरा कृष्ण, मेरा आत्मा, मेरे गुरुदेव, मेरा परमात्मा केवल एक है। सुख आयेगा - जायेगा, पर मैं चैतन्य आत्मा एकरस हूँ, ऐसा उसने सत्संग में सुन रखा था।

सत्संग को खूब एकाग्रता से सुनने और बाद में उसे स्मरण-मनन करने से कर्मावती ने छोटी उम्र में खूब ऊँचाई पा ली। वह बातचीत में और व्यवहार में भी सत्संग की बातें ला देती थी। फलतः व्यवहार के द्वन्द्व उसके चित्त को मलिन नहीं करते थे। उसके चित्त की निर्मलता व सात्त्विकता बढ़ती गयी।

मैं तो महेन्द्रगढ़ के उस सरदार खंडेरकर शेखावत को भी धन्यवाद दूँगा क्योंकि उसके राजपुरोहित हुए थे परशुराम और परशुराम के घर आयी थी कर्मावती जैसी पवित्र बच्ची। जिनके घर में भक्त पैदा हो वे माता-पिता तो भाग्यशाली हैं ही, पवित्र हैं, वे जहाँ नौकरी करते हैं वह जगह, वह आफिस, वह कुर्सी भी भाग्यशाली है। जिसके यहाँ वे नौकरी करते हैं वह भी भाग्यशाली है कि भक्त के माता-पिता उसके यहाँ आया-जाया करते हैं।

राजपुरोहित परशुराम भी भगवान के भक्त थे। संयमी जीवन था उनका। वे सदाचारी थे, दीन-दुःखियों की सेवा किया करते थे, गुरु-दर्शन में रूचि और गुरु-वचन में विश्वास रखने वाले थे। ऐसे पवित्रात्मा के यहाँ जो संतान पैदा हो, उसका भी ओजस्वी-तेजस्वी होना स्वाभाविक है।

कर्मावती पिता से भी बहुत आगे बढ़ गयी। कहावत है कि 'बाप से बेटा सवाया होना चाहिए' लेकिन यह तो बेटा सवायी हो गई भक्ति में !

परशुराम सरदार के कामकाज में व्यस्त रहते, अतः कभी सत्संग में जा पाते कभी नहीं, पर कर्मावती हर रोज नियमित रूप से अपनी माँ को लेकर सत्संग सुनने पहुँच जाती है। परशुराम सत्संग की बात भूल भी जाते परंतु कर्मावती याद रखती।

कर्मावती ने घर में पूजा के लिए एक कोठरी बना ली थी। वहाँ संसार की कोई बात नहीं, केवल माला और जप ध्यान। उसने उस कोठरी को सात्त्विक सुशोभनों से सजाया था। बिना हाथ-पैर धोये, नींद से उठकर बिना स्नान किये उसमें प्रवेश नहीं करती थी। धूप-दीप-अगरबत्ती से और कभी-कभी ताजे खिले हुए फूलों से कोठरी को पावन बनाया करती, महकाया करती। उसके भजन की कोठरी मानों, भगवान का मंदिर ही बन गयी थी। वह ध्यान-भजन नहीं करनेवाले निगुरे कुटुम्बियों को नम्रता से समझा-बुझाकर उस कोठरी में नहीं आने देती थी। उसकी उस साधना-कुटीर में भगवान की ज्यादा मूर्तियाँ नहीं थीं। वह जानती थी कि अगर ध्यान-भजन में रूचि न हो तो वे मूर्तियाँ बेचारी क्या करेंगी? ध्यान-भजन में सच्ची लगन हो तो एक ही मूर्ति काफी है।

साधक अगर एक ही भगवान की मूर्ति या गुरुदेव के चित्र को एकटक निहारते-निहारते आंतर यात्रा करे तो 'एक में ही सब है और सब में एक ही है' यह ज्ञान होने में सुविधा रहेगी। जिसके ध्यान-कक्ष में, अभ्यास-खण्ड में या घर में बहुत से देवी-देवताओं के चित्र हों, मूर्तियाँ हों तो समझ लेना, उसके चित्त में और जीवन में काफी अनिश्चितता होगी ही। क्योंकि उसका चित्त अनेक में बँट जाता है, एक पर पूरा भरोसा नहीं रहता।

कर्मावती ने साधन-भजन करने का निश्चित नियम बना लिया था। नियम पालने में वह पक्की थी। जब तक नियम पूरा न हो तब तक भोजन नहीं करती। जिसके जीवन में ऐसी दृढ़ता होती है, वह हजारों विघ्न-बाधाओं और मुसीबतों को पैरों तले कुचलकर आगे निकल जाता है।

कर्मावती 13 साल की हुई। उस साल उसके गाँव में चातुर्मास करने के लिए संत पधारे। कर्मावती एक दिन भी कथा सुनना चूकी नहीं। कथा-श्रवण के साररूप उसके दिल-दिमाग में निश्चय दृढ़ हुआ कि जीवनदाता को पाने के लिए ही यह जीवन मिला है, कोई गड़बड़ करने के लिए नहीं। परमात्मा को नहीं पाया तो जीवन व्यर्थ है।

न पति अपना है न पत्नी अपनी है, न बाप अपना है न बेटे अपने हैं, न घर अपना है न दुकान अपनी है। अरे, यह शरीर तक अपना नहीं है तो और की क्या बात करें? शरीर को भी एक दिन छोड़ना पड़ेगा, श्मशान में उसे जलाया जायेगा।

कर्मावती के हृदय में जिज्ञासा जगी कि शरीर जल जाने से पहले मेरे हृदय का अज्ञान कैसे जले? मैं अज्ञानी रहकर बूढ़ी हो जाऊँ, आखिर में लकड़ी टेकती हुई, रुग्ण अवस्था में अपमान सहती हुई, कराहती हुई अन्य बुढ़ियाओं की नाई मरूँ यह उचित नहीं। यह कभी-कभी वृद्धों को, बीमार व्यक्तियों को देखती और मन में वैराग्य लाती कि मैं भी इसी प्रकार बूढ़ी हो जाऊँगी, कमर झुक जायेगी, मुँह पोपला हो जायेगा। आँखों से पानी टपकेगा, दिखाई नहीं देगा, सुनाई नहीं देगा, शरीर शिथिल हो जायेगा। यदि कोई रोग हो जायेगा तो और मुसीबत। किसी की मृत्यु होती तो कर्मावती उसे देखती, जाती हुई अर्थी को निहारती और अपने मन को समझाती: "बस ! यही है शरीर का आखिरी अंजाम? जवानी में सँभाला नहीं तो बुढ़ापे में दुःख भोग-भोगकर आखिर मरना ही है। राम.....! राम.....!! राम.....!!! मैं ऐसी नहीं बनूँगी। मैं तो बनूँगी भगवान की जोगिन मीराबाई। मैं तो मेरे प्यारे परमात्मा को रिझाऊँगी।"

कर्मावती कभी वैराग्य की अग्नि में अपने को शुद्ध करती है, कभी परमात्मा के स्नेह में भाव विभोर हो जाती है, कभी प्यारे के वियोग में आँसू बहाती है तो कभी सुनमुन होकर बैठी रहती है। मृत्यु तो किसी के घर होती है और कर्मावती के हृदय के पाप जलने लगते हैं। उसके चित्त में विलासिता की मौत हो जाती है, संसारी तुच्छ आकर्षणों का दम घुट जाता है और हृदय में भगवदभक्ति का दिया जगमगा उठता है।

किसी की मृत्यु होने पर भी कर्मावती के हृदय में भक्ति का दिया जगमगाने लगता और किसी की शादी हो तब भी भक्ति का दिया ही जगमगाता। वह ऐसी भावना करती कि

मैं ऐसे वर को क्यों वरूँ, जो उपजे और मर जाय।

मैं तो वरूँ मेरे गिरधर गोपाल को, मेरो चूड़लो अमर हो जाय।

मीरा ने इसी भाव को प्रकटाकर, दुहराकर अपने जीवन को धन्य कर लिया था।

कर्मावती ने भगवदभक्ति की महिमा सुन रखी थी कि एक ब्राह्मण युवक था। उसने अपना स्वभावजन्य कर्म नहीं किया। केवल विलासी और दुराचारी जीवन जिया। जो आया सो खाया, जैसा चाहा वैसा भोगा, कुकर्म किये। वह मरकर दूसरे जन्म में बैल बना और किसी भिखारी के हाथ लगा। वह भिखारी बैल पर सवारी करता और बस्ती में घूम-फिरकर, भीख माँगकर अपना गुजारा चलाता।

दुःख सहते-सहते बैल बूढ़ा हो गया, उसके शरीर की शक्ति क्षीण हो गयी। वह अब बोझ ढोने के काबिल नहीं रहा। भिखारी ने बैल को छोड़ दिया। रोज-रोज व्यर्थ मैं चारा कहाँ से खिलाये? भूखा प्यासा बैल इधर-उधर

भटकने लगा। कभी कहीं कुछ रूखा-सूखा मिल जाता तो खा लेता। कभी लोगों के डण्डे खाकर ही रह जाना पड़ता।

बारिश के दिन आये। बैल कहीं कीचड़ के गड्डे में उतर गया और फँस गया। उसकी रगों में ताकत तो थी नहीं। फिर वहीं छटपटाने लगा तो और गहराई में उतरने लगा। पीठ की चमड़ी फट गयी, लाल धब्बे दिखाई देने लगे। अब ऊपर से कौएँ चोंच मारने लगे, मक्खियाँ भिनभिनाने लगीं। निस्तेज, थका मांदा, हारा हुआ वह बूढ़ा बैल अगले जन्म में खूब मजे कर चुका था, अब उनकी सजा भोग रहा है। अब तो प्राण निकलें तभी छुटकारा हो। वहाँ से गुजरते हुए लोग दया खाते कि बेचारा बैल ! कितना दुःखी है ! हे भगवान ! इसकी सदगति हो जाय ! कितना दुःखी है ! हे भगवान ! इसकी सदगति हो जाये ! वे लोग अपने छोटे-मोटे पुण्य प्रदान करते फिर भी बैल की सदगति नहीं होती थी।

कई लोगों ने बैल को गड्डे से बाहर निकालने की कोशिश की, पूँछ मरोड़ी, सींगों में रस्सी बाँधकर खींचा-तानी की लेकिन कोई लाभ नहीं। वे बेचारे बैल को और परेशान करके थककर चले गये।

एक दिन कुछ बड़े-बूढ़े लोग आये और विचार करने लगे कि बैल के प्राण नहीं निकल रहे हैं, क्या किया जाये? लोगों की भीड़ इकट्ठी हो गयी। उस टोले में एक वेश्या भी थी। वेश्या ने कुछ अच्छा संकल्प किया।

वह हर रोज तोते के मुँह से टूटी-फूटी गीता सुनती। समझती तो नहीं फिर भी भगवद्गीता के श्लोक तो सुनती थी। भगवद्गीता आत्मज्ञान देती है, आत्मबल जगाती है। गीता वेदों का अमृत है। उपनिषदरूपी गायों को दोहकर गोपालनन्दन श्रीकृष्णरूपी ग्वाले ने गीतारूपी दुग्धामृत अर्जुन को पिलाया है। यह पावन गीता हर रोज सुबह पिंजरे में बैठा हुआ तोतो बोलता था, वह सुनती थी। वेश्या ने इस गीता-श्रवण का पुण्य बैल की सदगति के लिए अर्पण किया।

जैसे ही वेश्या ने संकल्प किया कि बैल के प्राण-पखेरु उड़ गये। उसी पुण्य के प्रभाव से वह बैल सोमशर्मा नामक ब्राह्मण के घर बालक होकर पैदा हुआ। बालक जब 6 साल का हुआ तो उसके यज्ञोपवीत आदि संस्कार किये गये। माता-पिता ने कुल-धर्म के पवित्र संस्कार किये गये। माता-पिता ने कुल-धर्म के पवित्र संस्कार दिये। उसकी रुचि ध्यान-भजन में लगी। वह आसन, प्राणायाम, ध्यानाभ्यास आदि करने लगा। उसने योग में तीव्रता से प्रगति कर ली और 18 साल की उम्र में ध्यान के द्वारा अपना पूर्वजन्म जान लिया। उसको आश्चर्य हुआ कि ऐसा कौन-सा पुण्य उस बाई ने अर्पण किया जिससे मुझे बैल की नारकीय अवस्था से मुक्ति मिली व जप-तप करने वाले पवित्र ब्राह्मण के घर जन्म मिला?

ब्राह्मण युवक पहुँचा वेश्या के घर। वेश्या अब तक बूढ़ी हो चुकी थी। वह अपने कृत्यों पर पछतावा करने लगी थी। अपने द्वार पर ब्राह्मण कुमार को आया देखकर उसने कहा:

"मैंने कई जवानों की जिन्दगी बरबाद की है, मैं पाप-चेष्टाओं में गरक रहते-रहते बूढ़ी हो गयी हूँ। तू ब्राह्मण का पुत्र ! मेरे द्वार पर आते तुझे शर्म नहीं आती?"

"मैं ब्राह्मण का पुत्र जरूर हूँ पर विकारी और पाप की निगाह से नहीं आया हूँ। माताजी ! मैं तुमको प्रणाम करके पूछने आया हूँ कि तुमने कौन सा पुण्य किया है?"

"भाई ! मैं तो वेश्या ठहरी। मैंने कोई पुण्य नहीं किया है?"

"उन्नीस साल पहले किसी बैल को कुछ पुण्य अर्पण किया था?"

"हाँ..... स्मरण में आ रहा है। कोई बूढ़ा बैल परेशान हो रहा था, प्राण नहीं छूट रहे थे बेचारे के। मुझे बहुत दया आयी। मेरे और तो कोई पुण्य थे नहीं। किसी ब्राह्मण के घर में चोर चोरी करके आये थे। उस सामान में तोते का एक पिंजरा भी था जो मेरे यहाँ छोड़ गये। उस ब्राह्मण ने तोते को श्रीमद्भगवद्गीता के कुछ श्लोक रटाये थे। वह मैं सुनती थी। उसी का पुण्य उस बैल को अर्पण किया था।

ब्राह्मण कुमार को ऐसा लगा कि यदि भगवद्गीता का अर्थ समझे बिना केवल उसका श्रवण ही इतना लाभ कर सकता है तो उसका मनन और निदिध्यासन करके गीता-ज्ञान पचाया जाये तो कितना लाभ हो सकता है ! वह पूर्ण शक्ति से चल पड़ा गीता-ज्ञान को जीवन में उतारने के लिए।

कर्मावती को जब गीता-माहात्म्य की यह कथा सुनने को मिली तो उसने भी गीता का अध्ययन शुरू कर दिया। भगवद्गीता में तो प्राणबल है, हिम्मत है, शक्ति है। कर्मावती के हृदय में भगवान श्रीकृष्ण के लिए प्यार पैदा हो गया। उसने पक्की गाँठ बाँध ली कि कुछ भी हो जाये मैं उस बाँके बिहारी के आत्म-ध्यान को ही अपना जीवन बना लूँगी, गुरुदेव के ज्ञान को पूरा पचा लूँगी। मैं संसार की भट्ठी में पच-पचकर मरूँगी नहीं, मैं तो परमात्म-रस के घूँट पीते-पीते अमर हो जाऊँगी।

कर्मावती ने ऐसा नहीं किया कि गाँठ बाँध ली और फिर रख दी किनारे। नहीं.... एक बार दृढ़ निश्चय कर लिया तो हर रोज सुबह उस निश्चय को दुहराती, अपने लक्ष्य का बार-बार स्मरण करती और अपने आपसे कहा करती कि मुझे ऐसा बनना है। दिन-प्रतिदिन उसका निश्चय और मजबूत होता गया।

कोई एक बार निर्णय कर ले और फिर अपने निर्णय को भूल जाये तो उस निर्णय की कोई कीमत नहीं रहती। निर्णय करके हर रोज उसे याद करना चाहिए, उसे दुहराना चाहिए कि हमें ऐसा बनना है। कुछ भी हो जाये, निश्चय से हटना नहीं है।

हमें रोक सके ये जमाने में दम नहीं।

हमसे जमाना है जमाने से हम नहीं।।

पाँच वर्ष के ध्रुव ने निर्णय कर लिया तो विश्वनियंता विश्वेश्वर को लाकर खड़ा कर दिया। प्रह्लाद ने निर्णय कर लिया तो स्तंभ में से भगवान नृसिंह को प्रकट होना पड़ा। मीरा ने निर्णय कर लिया तो मीरा भक्ति में सफल हो गयी।

प्रातः स्मरणीय परम पूज्य स्वामी श्री लीलाशाहजी बापू ने निर्णय कर लिया तो ब्रह्मज्ञान में पारंगत हो गये। हम अगर निर्णय करें तो हम क्यों सफल नहीं होंगे? जो साधक अपने साधन-भजन करने के पवित्र स्थान में, ब्राह्ममूर्हत के पावन काल में महान बनने के निर्णय को बार-बार दुहराते हैं उनको महान होने से दुनिया की कोई ताकत रोक नहीं सकती।

कर्मावती 18 साल की हुई। भीतर से जो पावन संकल्प किया था उस पर वह भीतर-ही-भीतर अडिग होती चली गयी। वह अपना निर्णय किसी को बताती नहीं थी।, प्रचार नहीं करती थी, हवाई गुब्बारे नहीं उड़ाया करती थी अपितु सत्संकल्प की नींव में साधना का जल सिंचन किया करती थी।

कई भोली-भाली मूर्ख बच्चियाँ ऐसी होती हैं, जिन्होंने दो चार सप्ताह ध्यान-भजन किया, दो चार महीने साधना की और चिल्लाने लग गयीं कि 'मैं अब शादी नहीं करूँगी, मैं अब साध्वी बन जाऊँगी, संन्यासिनी बन जाऊँगी, साधना करूँगी' साधन-भजन की शक्ति बढ़ने के पहले ही चिल्लाने लग गयीं।

वे ही बच्चियाँ दो-चार साल बाद मेरे पास आयीं, देखा तो उन्होंने शादी कर ली थी और अपना नन्हा-मुन्ना बेटा-बेटी ले आकर मुझसे आशीर्वाद माँग रही थीं कि मेरे बच्चे को आशीर्वाद दें कि इसका कल्याण हो।

मैंने कहा: अरे ! तू तो बोलती थी, शादी नहीं करूँगी, संन्यास लूँगी, साधना करूँगी और फिर यह संसार का झमेला?"

साधना की केवल बातें मत करो, काम करो, बाहर घोषणा मत करो, भीतर-ही-भीतर परिपक्व बनते जाओ। जैसे स्वाति नक्षत्र में आकाश से गिरती जल की बूँद को पका-पकाकर मोती बना देती है, ऐसे ही तुम भी अपनी भक्ति की कुंजी गुप्त रखकर भीतर-ही-भीतर उसकी शक्ति को बढ़ने दो। साधना की बात किसी को बताओ नहीं। जो अपने परम हितैषी हों, भगवान के सच्चे भक्त हों, श्रेष्ठ पुरुष हों, सदगुरु हों केवल उनसे ही अपनी अंतरंग साधना की बात करो। अंतरंग साधना के विषय में पूछो। अपने आध्यात्मिक अनुभव जाहिर करने से साधना का ह्रास होता है और गोप्य रखने से साधना में दिव्यता आती है।

मैं जब घर में रहता था, तब युक्ति से साधन-भजन करता था और भाई को बोलता था: थोड़े दिन भजन करने दो, फिर दुकान पर बैरूँगा। अभी अनुष्ठान चल रहा है। एक पूरा होता तो कहता, अभी एक बाकी है। फिर थोड़े दिन दुकान पर जाता। फिर उसको बोलता: 'मुझे कथा में जाना है।' तो भाई चिढ़कर कहता: "रोज-रोज ऐसा कहता है, सुधरता नहीं?" मैं कहता: "सुधर जाऊँगा।"

ऐसा करते-करते जब अपनी वृत्ति पक्की हो गयी, तब मैंने कह दिया: 'मैं दुकान पर नहीं बैरूँगा, जो करना हो सो कर लो। यदि पहले से ही ऐसे बगावत के शब्द बोलता तो वह कान पकड़कर दुकान पर बैठा देता।

मेरी साधना को रोककर मुझे अपने जैसा संसारी बनाने के लिए रिश्तेदारों ने कई उपाय आजमाये थे। मुझे फुसला कर सिनेमा दिखाने ले जाते, जिससे संसार का रंग लग जाये, ध्यान-भजन की रुचि नष्ट हो जाये। फिर जल्दी-जल्दी शादी करा दी। हम दोनों को कमरे में बन्द कर देते ताकि भगवान से प्यार न करूँ और संसारी हो जाऊँ। अहाहा....! संसारी लोग साधना से कैसे-कैसे गिरते-गिराते हैं। मैं भगवान से आर्तभाव से प्रार्थना किया करता कि 'हे प्रभु ! मुझे बचाओ।' आँखों से झर-झर आँसू टपकते। उस दयालु देव की कृपा का वर्णन नहीं कर सकता।

मैं पहले भजन नहीं करता तो घरवाले बोलते: 'भजन करो.... भजन करो.... ' जब मैं भजन करने लगा तो लोग बोलने लगे: 'रुको.. रुको... इतना सारा भजन नहीं करो।' जो माँ पहले बोलती थी कि 'ध्यान करो।' फिर वही बोलने लगी कि 'इतना ध्यान नहीं करो। तेरा भाई नाराज होता है। मैं तेरी माँ हूँ। मेरी आज्ञा मानो।'।

अभी जहाँ भव्य आश्रम है, वहाँ पहले ऐसा कुछ नहीं था। कँटीले झाड़-झंखाड़ तथा भयावह वातावरण था वहाँ। उस समय जब हम मोक्ष कुटीर बना रहे थे, तब भाई माँ को बहकाकर ले आया और बोला: "सात सात

साल चला गया था। अब गुरुजी ने भेजा है तो घर में रहो, दुकान पर बैठो। यहाँ जंगल में कुटिया बनवा रहे हो! इतनी दूर तुम्हारे लिए रोज-रोज टिफिन कौन लायेगा?"

माँ भी कहने लगी "मैं तुम्हारी माँ हूँ न? तुम मातृ आज्ञा शिरोधार्य करो, यह ईंटें वापस कर दो। घर में आकर रहो। भाई के साथ दुकान पर बैठा करो।"

यह माँ की आज्ञा नहीं थी, ममता की आज्ञा थी और भाई की चाबी भराई हुई आज्ञा थी। माँ ऐसी आज्ञा नहीं देती।

भाई मुझे घर ले जाने के लिए जोर मार रहा था। भाभी भी कहने लगी: "यहाँ उजाड़ कोतरों में अकेले पड़े रहोगे? क्या हर रोज मणिनगर से आपके भाई टिफिन लेकर यहाँ आयेंगे?"

मैंने कहा: "ना.... ना... आपका टिफिन हमको नहीं चाहिए। उसे अपने पास ही रखो। यहाँ आकर तो हजारों लोग भोजन करेंगे। हमारा टिफिन वहाँ से थोड़े ही मँगवाना है?"

उन लोगों को यही चिन्ता होती थी कि यह अकेला यहाँ रहेगा तो मणिनगर से इसके लिए खाना कौन लायेगा? उनको पता नहीं कि जिसके सात साल साधना में गये हैं वह अकेला नहीं है, विश्वेश्वर उसके साथ है। बेचारे संसारियों की बुद्धि अपने ढंग की होती है।

माँ मुझे दोपहर को समझाने आयी थी। उसके दिल में ममता थी। यहाँ पर कोई पेड़ नहीं था, बैठने की जगह नहीं थी। छोटे-बड़े गड्डे थे। जहाँ मोक्ष कुटीर बनी है, वहाँ खिजड़े का पेड़ था वहाँ लोग दारु छिपाते थे। कैसी-कैसी विकट परिस्थितियाँ थीं, लेकिन हमने निर्णय कर लिया था कि कुछ भी हो, हम तो अपनी राम-नाम की शराब पियेंगे, पिलायेंगे। ऐसे ही कर्मावती ने भी निर्णय कर लिया था लेकिन उसे भीतर छिपाये थी। जगत भक्ति नहीं और करने दे नहीं। दुनिया दोरंगी है।

दुनिया कहे में दुरंगी पल में पलटी जाऊँ।

सुख में जो सोते रहें वा को दुःखी बनाऊँ।।

आत्मज्ञान या आत्मसाक्षात्कार तो बहुत ऊँची चीज होती है। तत्त्वज्ञानी के आगे भगवान कभी अप्रकट रहता ही नहीं। आत्मसाक्षात्कारी तो स्वयं भगवत्स्वरूप हो जाते हैं। वे भगवान को बुलाते नहीं। वे जानते हैं कि रोम-रोम में, अनंत-अनंत ब्रह्माण्डों में जो ठोस भरा है वह अपने हृदय में भी है। ज्ञानी अपने हृदय में ईश्वर को जगा लेते हैं, स्वयं ईश्वरस्वरूप बन जाते हैं। वे पक्के गुरु के चेले होते हैं, ऐसे वैसे नहीं होते।

कर्मावती 18 साल की हुई। उसका साधन-भजन ठीक से आगे बढ़ रहा था। बेटा उम्र लायक होने से पिता परशुरामजी को भी चिन्ता होने लगी कि इस कन्या को भक्ति का रंग लग गया है। यदि शादी के लिए ना बोल देगी तो? ऐसी बातों में मर्यादा, शर्म, संकोच खानदानी के ख्यालों का वह जमाना था। कर्मावती की इच्छा न होते हुए भी पिता ने उसकी मँगनी करा दी। कर्मावती कुछ नहीं बोल पायी।

शादी का दिन नजदीक आने लगा। वह रोज परमात्मा से प्रार्थना करने लगी और सोचने लगी: "मेरा संकल्प तो है परमात्मा को पाने का, ईश्वर के ध्यान में तल्लीन रहने का। शादी हो जायेगी तो संसार के कीचड़ में फँस मरूँगी। अगले कई जन्मों में भी मेरे कई पति होंगे, माता पिता होंगे, सास-श्वसुर होंगे। उनमें से किसी

ने मृत्यु से नहीं छुड़ाया। मुझे अकेले ही मरना पड़ा। अकेले ही माता के गर्भ में उल्टा होकर लटकना पड़ा। इस बार भी मेरे परिवारवाले मुझे मृत्यु से नहीं बचायेंगे।

मृत्यु आकर जब मनुष्य को मार डालती है, तब परिवारे सह लेते हैं कुछ कर नहीं पाते, चुप हो जाते हैं। यदि मृत्यु से सदा के लिए पीछा छुड़ानेवाले ईश्वर के रास्ते पर चलते हैं तो कोई जाने नहीं देता।

हे प्रभु ! क्या तेरी लीला है ! मैं तुझे नहीं पहचानती लेकिन तू मुझे जानता है न? मैं तुम्हारी हूँ। हे सृष्टिकर्ता ! तू जो भी है, जैसा भी है, मेरे हृदय में सत्प्रेरणा दे।"

इस प्रकार भीतर-ही-भीतर भगवान से प्रार्थना करके कर्मावती शांत हो जाती तो भीतर से आवाज आती: "हिम्मत रखो.... डरो नहीं.... पुरुषार्थ करो। मैं सदा तुम्हारे साथ हूँ।" कर्मावती को कुछ तसल्ली-सी मिल जाती।

शादी का दिन नजदीक आने लगा तो कर्मावती फिर सोचने लगी: "मैं कुंवारी लड़की... सप्ताह के बाद शादी हो जायेगी। मुझे घसीट के ससुराल ले जायेंगे। अब मेरा क्या होगा...?" ऐसा सोचकर वह बेचारी रो पड़ती। अपने पूजा के कमरे में रोते-रोते प्रार्थना करती, आँसू बहाती। उसके हृदय पर जो गुजरता था उसे वह जानती थी और दूसरा जानता था परमात्मा।

'शादी को अब छः दिन बचे... पाँच दिन बचे.... चार दिन बचे।' जैसे कोई फाँसी की सजा पाया हुआ कैदी फाँसी की तारीख सुनकर दिन गिन रहा हो, ऐसे ही वह दिन गिन रही थी।

शादी के समय कन्या को वस्त्राभूषण से, गहने-अलंकारों से सजाया जाता है, उसकी प्रशंसा की जाती है। कर्मावती यह सब सांसारिक तरीके समझते हुए सोच रही थी कि "जैसे बैल को पुचकार कर गाड़ी में जोता जाता है, ऊँट को पुचकार कर ऊँटगाड़ी में जोता जाता है, भैंस को पुचकार कर भैंसगाड़ी में जोता जाता है, प्राणी को फुसलाकर शिकार किया जाता है वैसे ही लोग मुझे पुचकार-पुचकार कर अपना मनमाना मुझसे करवा लेंगे। मेरी जिन्दगी से खेलेंगे।"

"हे परमात्मा ! हे प्रभु ! जीवन इन संसारी पुतलों के लिए नहीं, तेरे लिये मिला है। हे नाथ ! मेरा जीवन तेरे काम आ जाये, तेरी प्राप्ति में लग जाये। हे देव ! हे दयालु ! हे जीवनदाता !...." ऐसे पुकारते-पुकारते कर्मावती कर्मावती नहीं रहती थी, ईश्वर की पुत्री हो जाती थी। जिस कमरे में बैठकर वह प्रभु के लिए रोया करती थी, आँसू बहाया करती थी। जिस कमरे में बैठकर वह प्रभु के लिए रोया करती थी, आँसू बढाया करती थी वह कमरा भी कितना पावन हो गया होगा। !

शादी के अब तीन दिन बचे थे.... दो दिन बचे थे... रात को नींद नहीं, दिन को चैन नहीं। रोते-रोते आँखें लाल हो गयीं। माँ पुचकारती, भाभी दिलासा देती और भाई रिझाता लेकिन कर्मावती समझती कि यह सारा पुचकार बैल को गाड़ी में जोतने के लिए हैं.... यह सारा स्नेह संसार के घट में उतारने के लिए है....

"हे भगवान ! मैं असहाय हूँ.... निर्बल हूँ.... हे निर्बल के बल राम ! मुझे सत्प्रेरणा दे.... मुझे सन्मार्ग दिखा।"

कर्मावती की आँखों में आँसू हैं... हृदय में भावनाएँ छलक रही हैं और बुद्धि में द्विधा है: 'क्या करूँ? शादी को इन्कार तो कर नहीं सकती.... मेरा स्त्री शरीर...? क्या किया जाये?'

भीतर से आवाज आयी: "तू अपने के स्त्री मत मान, अपने को लड़की मत मान, तू अपने को भगवदभक्त मान, आत्मा मान। अपने को स्त्री मानकर कब तक खुद को कोसती रहेगी? अपने को पुरुष मान कर कब तक बोझा ढोती रहेगी? मनुष्यत्व तो तुम्हारा चोला है। शरीर का एक ढाँचा है। तेरा कोई आकार नहीं है। तू तो निराकार बलस्वरूप आत्मा है। जब-जब तू चाहेगी, तब-तब तेरा मार्गदर्शन होता रहेगा। हिम्मत मत हार। पुरुषार्थ परम देव है। हजार विघ्न-बाधाएँ आ जायें, फिर भी अपने पुरुषार्थ से नहीं हटना।"

तुम साधना के मार्ग पर चलते हो तो जो भी इन्कार करते हैं, पराये लगते हैं, शत्रु जैसे लगते हैं वे भी, जब तुम साधना में उन्नत होंगे, ब्रह्मज्ञान में उन्नत होंगे तब तुमको अपना मानने लग जायेंगे, शत्रु भी मित्र बन जायेंगे। कई महापुरुषों का यह अनुभव है:

आँधी और तूफान हमको न रोक पाये।

मरने के सब इरादे जीने के काम आये।

हम भी हैं तुम्हारे कहने लगे पराये।।

कर्मावती को भीतर से हिम्मत मिली। अब शादी को एक ही दिन बाकी रहा। सूर्य ढलेगा... शाम होगी, रात्री होगी.... फिर सूर्योदय होगा... और शादी का दिन.... इतने ही घण्टे बीच में? अब समय नहीं गँवाना है। रात सोकर या रोकर नहीं गँवानी है। आज की रात जीवन या मौत की निर्णायक रात होगी।

कर्मावती ने पक्का निर्णय कर लिया: "चाहे कुछ भी हो जाये, कल सुबह बारात के घर के द्वार पर आये उसके पहले यहाँ से भागना पड़ेगा। बस यही एक मार्ग है, यही आखिरी फैसला है।"

क्षण..... मिनट..... और घण्टे बीत रहे थे। परिवार वाले लोग शादी की जोरदार तैयारियाँ कर रहे थे। कल सुबह बारात का सत्कार करना था, इसका इंतजाम हो रहा था। कई सगे-सम्बन्धी-मेहमान घर पर आये हुए थे। कर्मावती अपने कमरे में यथायोग्य मौके के इंतजार में घण्टे गिन रही थी।

दोपहर ही.... शाम हुई.... सूर्य ढला.... कल के लिए पूरी तैयारियाँ हो चुकी थीं। रात्रि का भोजन हुआ, दिन के परिश्रम से थके लोग रात्रि को देरी से बिस्तर पर लेट गये। दिन भर जहाँ शोरगुल मचा था, वहाँ शांति छा गयी।

ग्यारह बजे... दीवार की घड़ी ने डंके बजाये... फिर टिक्... टिक्.... टिक्... टिक्...क्षण मिनट में बदल रही हैं... घड़ी का काँटा आगे सरक रहा है.... सवा ग्यारह..... साढ़े ग्यारह.... फिर रात्री के नीरव वातावरण में घड़ी का एक डंका सुनाई पड़ा... टिक्....टिक्....टिक्.... पौने बारह..... घड़ी आगे बढ़ी... पन्द्रह मिनट और बीते.... बारह बजे... घड़ी ने बारह डंके बजाना शुरू किया.... कर्मावती गिनने लगी: एक... दो... तीन... चार... दस... ग्यारह... बारह।

अब समय हो गया। कर्मावती उठी। जाँच लिया कि घर में सब नींद में खुराटे भर रहे हैं। पूजा घर में बाँकेबिहारी कृष्ण कन्हैया को प्रणाम किया... आँसू भरी आँखों से उसे एकटक निहारा... भावविभोर होकर अपने प्यारे परमात्मा के रूप को गले लगा लिया और बोली: "अब मैं आ रही हूँ तेरे द्वार.... मेरे लाला....!"

चुपके से द्वार खोला, दबे पाँव घर से बाहर निकली। उसने आजमाया कि आँगन में भी कोई जागता नहीं है? कर्मावती आगे बढ़ी। आँगन छोड़कर गली में आ गयी। फिर सर्राटे से भागने लगी। वह गलियाँ पार

करती हुई रात्रि के अंधकार में अपने को छुपाती नगर से बाहर निकल गयी और जंगल का रास्ता पकड़ लिया। अब तो वह दौड़ने लगी थी। घरवाले संसार के कीचड़ में उतारें उसके पहले बाँके बिहारी गिरधर गोपाल के धाम में उसे पहुँच जाना था। वृन्दावन कभी देखा नहीं था, उसके मार्ग का भी उसे पता नहीं था लेकिन सुन रखा था कि इस दिशा में है।

कर्मावती भागती जा रही है। कोई देख लेगा अथवा घर में पता चल जायेगा तो लोग खजाने निकल पड़ेंगे.... पकड़ी जाऊँगी तो सब मामला चौपट हो जायेगा। संसारी माता-पिता इज्जत-आबरू का ख्याल करके शादी कराके ही रहेंगे। चौकी पहरा बिठा देंगे। फिर छूटने का कोई उपाय नहीं रहेगा। इस विचार से कर्मावती के पैरों में ताकत आ गयी। वह मानों, उड़ने लगी। ऐसे भागी, ऐसे भागी कि बस.... मानों, बंदूक लेकर कोई उसके पीछे पड़ा हो।

सुबह हुई। उधर घर में पता चला कि कर्मावती गायब है। अरे ! आज तो हक्के-बक्के से हो गये। इधर-उधर छानबीन की, पूछताछ की, कोई पता नहीं चला। सब दुःखी हो गये। परशुराम भक्त थे, माँ भी भक्त थी। फिर भी उन लोगों को समाज में रहना था। उन्हें खानदानी इज्जत-आबरू की चिन्ता थी। घर में वातावरण चिन्तित बन गया कि 'बारातवालों को क्या मुँह दिखायेंगे? क्या जवाब देंगे? समाज के लोग क्या कहेंगे?'

फिर भी माता-पिता के हृदय में एक बात की तसल्ली थी कि हमारी बच्ची किसी गलत रास्ते पर नहीं गयी है, जा ही नहीं सकती। उसका स्वभाव, उसके संस्कार वे अच्छी तरह जानते थे। कर्मावती भगवान की भक्त थी। कोई गलत मार्ग लेने का वह सोच ही नहीं सकती थी। आजकल तो कई लड़कियाँ अपने यार-दोस्त के साथ पलायन हो जाती हैं। कर्मावती ऐसी पापिनी नहीं थी।

परशुराम सोचते हैं कि बेटी परमात्मा के लिए ही भागी होगी, फिर भी क्या करूँ? इज्जत का सवाल है। राजपुरोहित के खानदान में ऐसा हो? क्या किया जाये? आखिर उन्होंने अपने मालिक शेखावत सरदार की शरण ली। दुःखी स्वर में कहा: "मेरी जवान बेटी भगवान की खोज में रातोंरात कहीं चली गयी है। आप मेरी सहायता करें। मेरी इज्जत का सवाल है।"

सरदार परशुराम के स्वभाव से परिचित थे। उन्होंने अपने घुडसवार सिपाहियों को चहुँ ओर कर्मावती की खोज में दौड़ाया। घोषणा कर दी कि जंगल-झाड़ियों में, मठ-मंदिरों में, पहाड़-कंदराओं में, गुरुकुल-आश्रमों में – सब जगह तलाश करो। कहीं से भी कर्मावती को खोज कर लाओ। जो कर्मावती को खोजकर ले आयेगा, उसे दस हजार मुद्रायें इनाम में दी जायेंगी।

घुडसवार चारों दिशा में भागे। जिस दिशा में कर्मावती भागी थी, उस दिशा में घुडसवारों की एक टुकड़ी चल पड़ी। सूर्योदय हो रहा था। धरती पर से रात्रि ने अपना आँचल उठा लिया था। कर्मावती भागी जा रही थी। प्रभात के प्रकाश में थोड़ी चिन्तित भी हुई कि कोई खोजने आयेगा तो आसानी से दिख जाऊँगी, पकड़ी जाऊँगी। वह वीरांगना भागी जा रही है और बार-बार पीछे मुड़कर देख रही है।

दूर-दूर देखा तो पीछे रास्ते में धूल उड़ रही थी। कुछ ही देर में घुडसवारों की एक टुकड़ी आती हुई दिखाई दी। वह सोच रही है: "हे भगवान ! अब क्या करूँ? जरूर ये लोग मुझे पकड़ने आ रहे हैं। सिपाहियों के

आगे मुझ निर्बल बालिका क्या चलेगा? चहुँओर उजाला छा गया है। अब तो घोड़ों की आवाज भी सुनाई पड़ रही है। कुछ ही देर में वे लोग आ जायेंगे। सोचने का भी समय अब नहीं रहा।"

कर्मावती ने देखा: रास्ते के किनारे मरा हुआ एक ऊँट पड़ा था। पिछले दिन ही मरा था और रात को सियारों ने उसके पेट का माँस खाकर पेट की जगह पर पोल बना दिया था। कर्मावती के चित्त में अनायास एक विचार आया। उसने क्षणभर में सोच लिया कि इस मरे हुए ऊँट के खाली पेट में छुप जाऊँ तो उन कातिलों से बच सकती हूँ। वह मरे हुए, सड़े हुए, बदबू मारनेवाले ऊँट के पेट में घुस गयी।

घुडसवार की टुकड़ी रास्ते के इर्दगिर्द पेड़-झाड़ी-झाँखड़, छिपने जैसे सब स्थानों की तलाश करती हुई वहाँ आ पहुँची। सिपाही मरे हुए ऊँट के पाय आये तो भयंकर दुर्गन्ध। वे अपना नाक-मुँह सिकोड़ते, बदबू से बचने के लिए आगे बह गये। वहाँ तलाश करने जैसा था भी क्या?

कर्मावती ऐसी सिर चकरा देने वाली बदबू के बीच छुपी थी। उसका विवेक बोल रहा था कि संसार के विकारों की बदबू से तो इस मरे हुए ऊँट की बदबू बहुत अच्छी है। संसार के काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर की जीवनपर्यन्त की गन्दगी से तो यह दो दिन की गन्दगी अच्छी है। संसार की गन्दगी तो हजारों जन्मों की गन्दगी में त्रस्त करेगी, हजारों-लाखों बार बदबूवाले अंगों से गुजरना पड़ेगा, कैसी-कैसी योनियों में जन्म लेना पड़ेगा। मैं वहाँ से अपनी इच्छा के मुताबिक बाहर नहीं निकल सकती। ऊँट के शरीर से मैं कम-से-कम अपनी इच्छानुसार बाहर तो निकल जाऊँगी।'

कर्मावती को मरे हुए, सड़ चुके ऊँट के पेट के पोल की वह बदबू इतनी बुरी नहीं लगी, जितनी बुरी संसार के विकारों की बदबू लगी। कितनी बुद्धिमान रही होगी वह बेटी !

कर्मावती पकड़े जाने के डर से उसी पोल में एक दिन.. दो दिन... तीन दिन तक पड़ी रही। जल्दबाजी करने से शायद मुसीबत आ जाये ! घुडसवार खूब दूर तक चक्कर लगाकर दौड़ते, हाँफते, निराश होकर वापस उसी रास्ते से गुजर रहे थे। वे आपस में बातचीत कर रहे थे कि "भाई ! वह तो मर गयी होगी। किसी कुएँ या तालाब में गिर गयी होगी। अब उसका हाथ लगना मुश्किल है।" पोल में पड़ी कर्मावती ये बातें सुन रही थी।

सिपाही दूर-दूर चले गये। कर्मावती को पता चला फिर भी दो-चार घण्टे और पड़ी रही। शाम ढली, रात्री हुई, चहुँ ओर अँधेरा छा गया। जब जंगल में सियार बोलने लगे, तब कर्मावती बाहर निकली। उसने इधर-उधर देख लिया। कोई नहीं था। भगवान को धन्यवाद दिया। फिर भागना शुरू किया। भयावह जंगलों से गुजरते हुए हिंसक प्राणियों की डरावनी आवाजें सुनती कर्मावती आगे बढ़ी जा रही थी। उस वीर बालिका को जितना संसार का भय था, उतना क्रूर प्राणियों का भय नहीं था। वह समझती थी कि "मैं भगवान की हूँ और भगवान मेरे हैं। जो हिंसक प्राणी हैं वे भी तो भगवान के ही हैं, उनमें भी मेरा परमात्मा है। वह परमात्मा प्राणियों को मुझे खा जाने की प्रेरणा थोड़े ही देगा ! मुझे छिप जाने के लिए जिस परमात्मा ने मरे हुए ऊँट की पोल दी, सिपाहियों का रुख बदल दिया वह परमात्मा आगे भी मेरी रक्षा करेगा। नहीं तो यह कहाँ रास्ते के किनारे ही ऊँट का मरना, सियारों का माँस खाना, पोल बनना, मेरे लिए घर बन जाना? घर में घर जिसने बना दिया वह परम कृपालु परमात्मा मेरा पालक और रक्षक है।"

ऐसा दृढ़ निश्चय कर कर्मावती भागी जा रही है। चार दिन की भूखी-प्यासी वह सुकुमार बालिका भूख-प्यास को भूलकर अपने गन्तव्य स्थान की तरफ दौड़ रही है। कभी कहीं झरना मिल जाता तो पानी पी लेती। कोई जंगली फल मिले तो खा लेती, कभी-कभी पेड़ के पत्ते ही चबाकर क्षुधा-निवृत्ति का एहसास कर लेती।

आखिर वह परम भक्ति बालिका वृन्दावन पहुँची। सोचा कि इसी वेश में रहूँगी तो मेरे इलाके के लोग पहचान लेंगे, समझायेंगे, साथ चलने का आग्रह करेंगे। नहीं मानूँगी जबरन पकड़कर ले जायेंगे। इससे अपने को छुपाना अति आवश्यक है। कर्मावती ने वेश बदल दिया। सादा फकीर-वेश धारण कर लिया। एक सादा श्वेत वस्त्र, गले में तुलसी की माला, ललाट पर तिलक। वृन्दावन में रहनेवाली और भक्तिनों जैसी भक्तिन बन गयी।

कर्मावती के कुटुम्बीजन वृन्दावन आये। सर्वत्र खोज की। कोई पता नहीं चला। बाँकेबिहारी के मंदिर में रहे, सुबह शाम छुपकर तलाश की लेकिन उन दिनों कर्मावती मंदिर में क्यों जाये? बुद्धिमान थी वह।

वृन्दावन में ब्रह्मकुण्ड के पास एक साधु रहते थे। जहाँ भूले-भटके लोग ही जाते वह ऐसी जगह थी, वहाँ कर्मावती पड़ी रही। वह अधिक समय ध्यानमग्न रहा करती, भूख लगती तब बाहर जाकर हाथ फैला देती। भगवान की प्यारी बेटे भिखारी के वेश में टुकड़ा खा लेती।

जयपुर से भाई आया, अन्य कुटुम्बीजन आये। वृन्दावन में सब जगह खोजबीन की। निराश होकर सब लौट गये। आखिर पिता राजपुरोहित परशुराम स्वयं आये। उन्हें हृदय में पूरा यकीन था कि मेरी कृष्णप्रिया बेटे श्रीकृष्ण के धाम के अलावा और कहीं न जा सकती। सुसंस्कारी, भगवदभक्ति में लीन अपनी सुकोमल, प्यारी बच्ची के लिए पिता का हृदय बहुत व्यथित था। बेटे की मंगल भावनाओं को कुछ-कुछ समझनेवाले परशुराम का जीवन निस्सार-सा हो गया था। उन्होंने कैसे भी करके कर्मावती को खोजने का दृढ़ संकल्प कर लिया। कभी किसी पेड़ पर तो कभी किसी पेड़ पर चढ़कर मार्ग के पासवाले लोगों की चुपके से निगरानी रखते, सुबह से शाम तक रास्ते गुजरते लोगों को ध्यानपूर्वक निहारते कि शायद, किसी वेश में छिपी हुई अपनी लाडली का मुख दिख जाय !

पेड़ों पर से एक साध्वी को, एक-एक भक्तिन को, भक्त का वेश धारण किये हुए एक-एक व्यक्ति को परशुराम बारीकी से निहारते। सुबह से शाम तक उनकी यही प्रवृत्ति रहती। कई दिनों के उनका तप भी फल गया। आखिर एक दिन कर्मावती पिता की जासूस दृष्टि में आ ही गयी। परशुराम झटपट पेड़ से नीचे उतरे और वात्सल्य भाव से, रूँधे हुए हृदय से 'बेटे.... बेटे...' कहते हुए कर्मावती का हाथ पकड़ लिया। पिता का स्नेहिल हृदय आँखों के मार्ग से बहने लगा। कर्मावती की स्थिति कुछ और ही थी। ईश्वरीय मार्ग में ईमानदारी से कदम बढ़ानेवाली वह साधिका तीव्र विवेक-वैराग्यवान हो चली थी, लौकिक मोह-ममता से सम्बन्धों से ऊपर उठ चुकी थी। पिता की स्नेह-वात्सल्यरूपी सुवर्णमय जंजीर भी उसे बाँधने में समर्थ नहीं थी। पिता के हाथ से अपना हाथ छुड़ाते हुए बोली:

मैं तो आपकी बेटे नहीं हूँ। मैं तो ईश्वर की बेटे हूँ। आपके वहाँ तो केवल आयी थी कुछ समय के लिए। गुजरी थी आपके घर से। अगले जन्मों में भी मैं किसी की बेटे थी, उसके पहले भी किसी की बेटे थी। हर जन्म में बेटे कहने वाले बाप मिलते रहे हैं, माँ कहने वाले बेटे मिलते रहे हैं, पत्नी कहने वाले पति मिलते

रहे हैं। आखिर में कोई अपना नहीं रहता है। जिसकी सत्ता से अपना कहा जाता है, जिससे यह शरीर टिकता है वह आत्मा-परमात्मा, वे श्रीकृष्ण ही अपने हैं। बाकी सब धोखा-ही-धोखा है – सब मायाजाल है।"

राजपुरोहित परशुराम शास्त्र के अभ्यासी थे, धर्मप्रेमी थे, संतों के सत्संग में जाया करते थे। उन्हें बेटी की बात में निहित सत्य को स्वीकार करना पड़ा। चाहे पिता हो, चाहे गुरु हो सत्य बात तो सत्य ही होती है। बाहर चाहे कोई इन्कार कर दे, किंतु भीतर तो सत्य असर करता ही है।

अपनी गुणवान संतान के प्रति मोहवाले पिता का हृदय माना नहीं। वे इतिहास, पुराण और शास्त्रों में से उदाहरण ले-लेकर कर्मावती को समझाने लगे। बेटी को समझाने के लिए राजपुरोहित ने अपना पूरा पांडित्य लगा दिया पर कर्मावती....? पिता के विद्वतापूर्ण प्रश्न सुनते-सुनते यही सोच रही थी कि पिता का मोह कैसे दूर हो सके। उसकी आँखों में भगवदभाव के आँसू थे, ललाट पर तिलक, गले में तुलसी की माला। मुख पर भक्ति का ओज आ गया था। वह आँखे बन्द करके ध्यान किया करती थी। इससे आँखों में तेज और चुम्बकत्व आ गया था। पिता का मंगल हो, पिता का मेरे प्रति मोह न रहे। ऐसी भावना कर हृदय में दृढ संकल्प कर कर्मावती ने दो-चार बार पिता की तरफ निहारा। वह पण्डित तो नहीं थी लेकिन जहाँ से हजारों-हजारों पण्डितों को सत्ता-स्फूर्ति मिलती है, उस सर्वसत्ताधीश का ध्यान किया करती थी। आखिर पंडितजी की पंडिताई हार गयी और भक्त की भक्ति जीत गयी। परशुराम को कहना पड़ा: "बेटी ! तू सचमुच मेरी बेटी नहीं है, ईश्वर की बेटी है। अच्छा, तू खुशी से भजन कर। मैं तेरे लिए यहाँ कुटिया बनवा देता हूँ, तेरे लिए एक सुहावना आश्रम बनवा देता हूँ।"

"नहीं, नहीं...." कर्मावती सावधान होकर बोली: "यहाँ आप कुटिया बनायें तो कल माँ आयेगी, परसों भाई आयेगा, तरसों चाचा-चाची आयेंगे, फिर मामा-मामी आयेंगे। फिर से वह संसार चालू हो जायेगा। मुझे यह माया नहीं बढ़ानी है।"

कैसा बच्ची का विवेक है ! कैसा तीव्र वैराग्य है ! कैसा दृढ संकल्प है ! कैसी साधना सावधानी है ! धन्य है कर्मावती !

परशुराम निराश होकर वापस लौट गये। फिर भी हृदय में संतोष था कि मेरा हक्क का अन्न था, पवित्र अन्न था, शुद्ध आजीविका थी तो मेरे बालक को भी नाहकर के विकार और विलास के बदले हक्क स्वरूप ईश्वर की भक्ति मिली है। मुझे अपने पसीने की कमाई का बढ़िया फल मिला। मेरा कुल उज्ज्वल हुआ। वाह.....!

परशुराम अगर तथाकथित धार्मिक होते, धर्मभीरू होते तो भगवान को उलाहना देते: 'भगवान ! मैंने तेरी भक्ति की, जीवन में सच्चाई से रहा और मेरी लड़की घर छोड़कर चली गयी? समाज में मेरी इज्जत लुट गयी...' ऐसा विचार कर सिर पीटते।

परशुराम धर्मभीरू नहीं थे। धर्मभीरू यानी धर्म से डरनेवाले लोग। ऐसे लोग कई प्रकार के वहमों में अपने को पीसते रहते हैं?

धर्म क्या है? ईश्वर को पाना ही धर्म है और संसार को 'मेरा' मानना संसार के भोगों में पड़ना अधर्म है। यह बात जो जानते हैं, वे धर्मवीर होते हैं।

कूट-कूट कर भरी थी। राजकुमारी का ऐसा सौन्दर्य देखकर दासीपुत्र अत्यंत मोहित हो गया। वह कामपीडित होकर वापस लौटा।

जब दासी अपने घर गयी तो देखा कि अपना पुत्र मुँह लटकाये बैठा है। दासी के बहुत पूछने पर लड़का बोला: "मेरी शादी तुम उस राजकुमारी के साथ करवा दो।"

दासी: "तेरी मति तो नहीं मारी गयी? कहाँ तू विधवा दासी का पुत्र और कहाँ वह राजकुमारी? राजा को पता चलेगा तो तुझे फाँसी पर लटका देंगे।"

लड़का: "वह सब मैं नहीं जानता। जब तक मेरी शादी राजकुमारी के साथ नहीं होगी, तब तक मैं अन्न का एक दाना भी खाऊँगा।"

उसने कमस खाली। एक दिन... दो दिन... तीन दिन.... ऐसा करते-करते पाँच दिन बीत गये। उसने न कुछ खाया, न कुछ पिया। दासी समझाते-समझाते थक गयी। बेचारी का एक ही सहारा था। पति तो जवानी में ही चल बसा था और एक-एक करके दो पुत्र भी मर गये थे। बस, यह ही लड़का था, वह भी ऐसी हठ लेकर बैठ गया।

समझदार राजकुमारी ने भाँप लिया कि दासी उदास-उदास रहती है। जरूर उसे कोई परेशानी सता रही है। राजकुमारी ने दासी से पूछा: "सच बताओ, क्या बात है? आजकल तुम बड़ी खोयी-खोयी-सी रहती हो?"

दासी: "राजकुमारीजी ! यदि मैं आपको मेरी व्यथा बता दूँ तो आप मुझे और मेरे बेटे को राज्य से बाहर निकलवा देंगी।"

ऐसा कहकर दासी फूट-फूटकर रोने लगी।

राजकुमारी: "मैं तुम्हें वचन देती हूँ। तुम्हें और तुम्हारे बेटे को कोई सजा नहीं दूँगी। अब तो बताओ !"

दासी: "आपको देखकर मेरा लड़का अनधिकारी माँग करता है कि शादी करूँगा तो इस सुन्दरी से ही करूँगा और जब तक शादी नहीं होती तब तक भोजन नहीं करूँगा। आज पाँच दिन से उसने खाना-पीना छोड़ रखा है। मैं तो समझा-समझाकर थक गयी।"

राजकुमारी: "चिन्ता मत करो। तुम कल उसको मेरे पास भेज देना। मैं उसकी वास्तविक शादी करवा दूँगी।"

लड़का खुश होकर पहुँच गया राजकुमारी से मिलने। राजकुमारी ने उससे कहा: "मुझसे शादी करना चाहता है?"

"जी हाँ।"

"आखिर किस वजह से?"

"तुम्हारे मोहक सौन्दर्य को देखकर मैं घायल हो गया हूँ।"

"अच्छा ! तो तू मेरे सौन्दर्य की वजह से मुझसे शादी करना चाहता है? यदि मैं तुझे 80-90 प्रतिशत सौन्दर्य दे दूँ तो तुझे तृप्ति होगी? 10 प्रतिशत सौन्दर्य मेरे पास रह जायेगा तो तुझे तृप्ति होगी? 10 प्रतिशत सौन्दर्य मेरे पास रह जायेगा तो तुझे चलेगा न?"

"हाँ, चलेगा।"

"ठीक है.... तो कल दोपहर को आ जाना।"

राजकुमारी ने रात को जमालगोटे का जुलाब ले लिया जिससे रात्रि को दो बजे जुलाब के कारण हाजत तीव्र हो गयी। पूरे पेट की सफाई करके सारा कचरा बाहर। राजकुमारी ने सुन्दर नक्काशीदार कुण्डे में अपने पेट का वह कचरा डाल दिया। कुछ समय बाद उसे फिर से हाजत हुई तो इस बार जरीकाम और मलमल से सुसज्जित कुंडे में राजकुमारी ने कचरा उतार दिया। दोनों कुंडों को चारपाई के एक-एक पाये के पास रख दिया। उसके बाद फिर से एक बार जमालघोटे का जुलाब ले लिया। तीसरा दस्त तीसरे कुण्डे में किया। बाकी का थोड़ा-बहुत जो बचा हुआ मल था, विष्ठा थी उसे चौथी बार में चौथे कुंडे में निकाल दिया। इन दो कुंडों को भी चारपाई के दो पायों के पास में रख दिया।

एक ही रात जमालगोटे के कारण राजकुमारी का चेहरा उतर गया, शरीर खोखला सा हो गया। राजकुमारी की आँखें उतर गयीं, गालों की लाली उड़ गयी, शरीर एकदम कमजोर पड़ गया।

दूसरे दिन दोपहर को वह लड़का खुश होता हुआ राजमहल में आया और अपनी माँ से पूछने लगा: "कहाँ है राजकुमारी जी?"

दासी: "वह सोयी है चारपाई पर।"

राजकुमारी के नजदीक जाने से उसका उतरा हुआ मुँह देखकर दासीपुत्र को आशंका हुई। ठीक से देखा तो चौंक पड़ा और बोला:

"अरे ! तुम्हें या क्या हो गया? तुम्हारा चेहरा इतना फीका क्यों पड़ गया है? तुम्हारा सौन्दर्य कहाँ चला गया?"

राजकुमारी ने बहुत धीमी आवाज में कहा: "मैंने तुझे कहा था न कि मैं तुझे अपना 90 प्रतिशत सौन्दर्य दूँगी, अतः मैंने सौन्दर्य निकालकर रखा है।"

"कहाँ है?" आखिर तो दासीपुत्र था, बुद्धि मोटी थी।

"इस चारपाई के पास चार कुंडे हैं। पहले कुंडे में 50 प्रतिशत, दूसरे में 25 प्रतिशत सौन्दर्य दूँगी, अतः मैंने सौन्दर्य निकालकर रखा है।"

"कहाँ है?" आखिर तो दासीपुत्र था, बुद्धि मोटी थी।

"इस चारपाई के पास चार कुंडे हैं। पहले कुंडे में 50 प्रतिशत, दूसरे में 25 प्रतिशत तीसरे कुंडे में 10 प्रतिशत और चौथे में 5-6 प्रतिशत सौन्दर्य आ चुका है।"

"मेरा सौन्दर्य है। रात्रि के दो बजे से सँभालकर कर रखा है।"

दासीपुत्र हैरान हो गया। वह कुछ समझ नहीं पा रहा था। राजकुमारी ने दासी पुत्र का विवेक जागृत हो इस प्रकार उसे समझाते हुए कहा: "जैसे सुशोभित कुंडे में विष्ठा है ऐसे ही चमड़े से ढँके हुए इस शरीर में यही सब कचरा भरा हुआ है। हाड़-मांस के जिस शरीर में तुम्हें सौन्दर्य नज़र आ रहा था, उसे एक जमालगोटा ही नष्ट कर डालता है। मल-मूत्र से भरे इस शरीर का जो सौन्दर्य है, वह वास्तविक सौन्दर्य नहीं है लेकिन इस मल-मूत्रादि को भी सौन्दर्य का रूप देने वाला वह परमात्मा ही वास्तव में सबसे सुन्दर है भैया ! तू उस सौन्दर्यवान परमात्मा को पाने के लिए आगे बढ़। इस शरीर में क्या रखा है?"

आत्मविद्या की धनी: फुलीबाई

यह जोधपुर (राजस्थान) के पास के गाँव की महान नारी फुलीबाई की गाथा है। कहते हैं कि उनके पति शादी के थोड़े समय बाद ही स्वर्ग सिंधार गये थे। उनके माता-पिता ने कहा:

"तेरा सच्चा पति तो परमात्मा ही है, बेटी ! चल, तुझे गुरुदेव के पास से दीक्षा दिलवा दें।"

उनके समझदार माता-पिता ने समर्थ गुरु महात्मा भूरीबाई से उन्हें दीक्षा दिलवा दी। अब फुलीबाई अपने गुरुदेव की आज्ञा के अनुसार साधना में लीन हो गयीं। प्राणायाम, जप और ध्यान आदि करते-करते उनकी बुद्धिशक्ति विकसित होने लगी। वे इस बात को खूब अच्छे से समझने लगी कि प्राणीमात्र के परम हितैषी, सच्चे स्वामी तो एकमात्र परमात्मा ही हैं। धीरे-धीरे परमात्मा के रंग में अपने जीवन को रेंगते-रेंगते, प्रेमाभक्ति से अपने हृदय को भरते-भरते वे सुषुप्त शक्तियों को जागृत करने में सफल हो गयीं।

लौकिक विद्या में अनपढ़ वे फुलीबाई अलौकिक विद्या पाने में सफल हो गयीं। अब वे निराधार न रहीं बल्कि सर्वाधार के स्नेह से परिपूर्ण हो गयीं। उनके चित्त में नयी दिव्य स्फुरणाएँ स्फुरित होने लगीं। उनका जीवन परमात्म-प्रकाश से जगमगाने लगा। ऐहिक रूप से फुलीबाई बहुत गरीब थी किंतु उन्होंने वास्तविक धन को पा लिया था।

गोबर के कण्डे बना-बनाकर वे अपनी आजीविका चलाती थीं किंतु उनकी पड़ोसन उनके कण्डे चुरा लेती। एक बार फुलीबाई को उस स्त्री पर दया आयी एवं बोली:

"बहन ! यदि तू चोरी करेगी तो तेरा मन अपवित्र होगा और भगवान तुझसे नाराज हो जायेंगे। अगर तुझे चाहिए तो मैं तुझे पाँच-पचीस कण्डे दे दिया करूँगी किंतु तू चोरी करके अपना, मन, एवं बुद्धि का एवं अपने कुटुम्ब का सत्यानाश मत कर।"

वह पड़ोसन स्त्री तो दुष्ट थी। वह तो फुलीबाई को गालियों पर गालियाँ देने लगी। इससे फुलीबाई के चित्त में जरा भी क्षोभ न हुआ वरन् उनके चित्त में दया उपजी और वे बोली:

"बहन ! मैं तुझे जो कुछ कह रही हूँ, वह तुम्हारी भलाई के लिए ही कह रही हूँ। तुम झगड़ो मत।"

चोरी करने वाली महिला को ज्यादा गुस्सा आ गया। फिर फुलीबाई ने भी थोड़ा-सा सुना दिया। झगड़ा बढ़ने लगा तो गाँव का मुखिया एवं ग्राम-पंचायत इकट्ठी हो गयीं। सबसे एकत्रित देखकर वह चोरी करने वाली महिला बोली:

"फुलीबाई चोर है, मेरे कण्डे चुरा जाती है।"

फुलीबाई: "चोरी करने को मैं पाप समझती हूँ।"

तब गाँव का मुखिया बोला: "हम न्याय कैसे दें कि कण्डे किसके हैं? कण्डों पर नाम तो किसी का नहीं लिखा और आकार भी एक जैसा है। अब कैसे बतायें कि कौन से कण्डे फुलीबाई के हैं एवं कौन से उसकी पड़ोसन के?"

जो स्त्री चोरी करती थी, उसका पति कमाता था फिर भी मलिन मन के कारण वह चोरी करती थी। ऐसी बात नहीं कि कोई गरीबी के कारण ही चोरी करता है। कई बार तो समझ गरीब होती है तब भी लोग चोरी

करते हैं। फिर कोई कलम से चोरी करता है, कोई रिश्त के रूप में चोरी करता है, कोई नेता बनकर जनता से चोरी करता है। समझ जब कमजोर होती है तभी मनुष्य हराम के पैसे लेकर विलासी जीवन जीने की इच्छा करता है और समझ ऊँची होती है तो मनुष्य ईमानदारी की कमाई से पवित्र जीवन जीता है। फिर भी वह भले सादा जीवन जिये लेकिन उसके विचार बहुत ऊँचे होते हैं।

फुलीबाई का जीवन खूब सादगीपूर्ण था लेकिन उनकी भक्ति एवं समझ बहुत बढ़ गयी थी। उन्होंने कहा: "यह स्त्री मेरे कण्डे चुराती है इसका प्रमाण यह है कि यदि आप मेरे कण्डों को अपने कानों के पास रखेंगे तो उनमें से राम नाम की ध्वनि निकलेगी। जिन कण्डों में राम-नाम की ध्वनि निकले उन्हें आप मेरे समझना और जिनमें से न निकले उन्हें इसके समझना।"

ग्राम-पंचायत के कुछ सज्जन लोग एवं मुखिया उस महिला के यहाँ गये। उसके कण्डों के ढेर में से एक-एक कण्डा उठाकर कान के पास रखकर देखने लगे। जिस कण्डे में से राम नाम की ध्वनि का अनुभव होता तो उसे अलग रख देते। स लगभग 50 कण्डे निकले।

मंत्रजप करते-करते फुलीबाई की रगों में नस-नाडियों में एवं पूरे शरीर में मंत्र का प्रभाव छा गया था। वे जिन वस्तुओं को छूतीं, उनमें भी मंत्र की सूक्ष्म तरंगों का संचार हो जाता था। गाँव के मुखिया एवं उन सज्जनों को फुलीबाई का यह चमत्कार देखकर उनके प्रति आदर भाव हो आया। उन लोगों ने फुलीबाई का सत्कार किया।

मनुष्य में कितनी शक्ति है ! कितना सामर्थ्य है ! उसे यदि योग्य मार्गदर्शन मिल जाये एवं वह तत्परता से लग जाये तो क्या नहीं कर सकता?

फुलीबाई ने गुरुमंत्र प्राप्त करके गुरु के निर्देशानुसार साधना की तो उनमें इतनी शक्ति आ गयी कि उनके द्वारा बनाये गये कण्डों से भी राम नाम की ध्वनि निकलने लगी।

एक दिन राजा यशवंतसिंह के सैनिकों की एक टुकड़ी दौड़ने के लिए निकली। उसमें से एक सैनिक फुलीबाई की झोपड़ी में पहुँचा एवं उनसे पानी माँगा।

फुलीबाई ने कहा: "बेटा ! दौड़कर तुरंत पानी नहीं पीना चाहिए। इससे तंदरुस्ती बिगड़ती है एवं आगे जाकर खूब हानि होती। दौड़ लगाकर आये हो तो थोड़ी देर बैठो। मैं तुम्हें रोटी का टुकड़ा देती हूँ, उसे खाकर फिर पानी पीना।"

सैनिक: "माताजी ! हमारी पूरी टुकड़ी दौड़ती आ रही है। यदि मैं खाऊँगा तो मुझे मेरे साथियों को भी खिलाना पड़ेगा।"

फुलीबाई: "मैंने दो रोटले बनाये हैं गुवारफली की सब्जी है। तुम सब लोग टुकड़ा-टुकड़ा खा लेना।"

सैनिक: "पूरी टुकड़ी केवल दो रोटले में से टुकड़ा-टुकड़ा कैसे खा पायेगी?"

फुलीबाई: "तुम चिंता मत करो। मेरे राम मेरे साथ हैं।"

फुलीबाई ने दो रोटले एवं सब्जी को ढँक दिया। कुल्ले करके आँख-कान को पानी का स्पर्श कराया। 'हम जो देखें पवित्र देखें, हम जो सुनें पवित्र सुनें....' ऐसा संकल्प करके आँख-कान को जल का स्पर्श करवाया जाता है।

फुलीबाई ने सब्जी-रोटी को कपड़े से ढँककर भगवत्स्मरण किया एवं इष्टमंत्र में तल्लीन होते-होते टुकड़ी के सैनिकों को रोटले का टुकड़ा एवं सब्जी देती गयीं। फुलीबाई के हाथों से बने उस भोजन में दिव्यता आ गयी थी। उसे खाकर पूरी टुकड़ी बड़ी प्रसन्न एवं संतुष्ट हुई। उन्हें आज तक ऐसा भोजन नहीं मिला था। उन सभी ने फुलीबाई को प्रणाम किया एवं वे विचार करने लगे कि इतने-से झोंपड़े में इतना सारा भोजन कहाँ से आया !

सबसे पहले जो सैनिक पहले जो सैनिक पहुँचा था उसे पता था कि फुलीबाई ने केवल दो रोटले एवं थोड़ी सी सब्जी बनायी है किंतु उन्होंने जिस बर्तन में भोजन रखा है वह बर्तन उनकी भक्ति के प्रभाव से अक्षयपात्र बन गया है।

यह बात राजा यशवंतसिंह के कानों तक पहुँची। वह रथ लेकर फुलीबाई के दर्शन करने के लिए आया। उसने रथ को दूर ही खड़ा रखा, जूते उतारे, मुकुट उतारा एवं एक साधारण नागरिक की तरह फुलीबाई के द्वार तक पहुँचा। फुलीबाई की तो एक छोटी-सी झोंपड़ी है और आज उसमें जोधपुर का सम्राट खूब नम्र भाव से खड़ा है ! भक्ति की क्या महिमा है ! परमात्मज्ञान की क्या महिमा है कि जिसके आगे बड़े-बड़े सम्राट तक नतमस्तक हो जाते हैं !

यशवंतसिंह ने फुलीबाई के चरणों में प्रणाम किया। थोड़ी देर बातचीत की, सत्संग सुना। फुलीबाई ने अपने अनुभव की बातें बड़ी निर्भीकता से राजा यशवंतसिंह को सुनायीं-

"बेटा यशवंत ! तू बाहर का राज्य तो कर रहा है लेकिन अब भीतर का राज्य भी पा ले। तेरे अंदर ही आत्मा है, परमात्मा है। वही असली राज्य है। उसका ज्ञान पाकर तू असली सुख पा ले। कब तक बाहर के विषय-विकारों के सुख में अपने को गरक करता रहेगा? हे यशवंत ! तू यशस्वी हो। अच्छे कार्य कर और उन्हें भी ईश्वरार्पण कर दे। ईश्वरार्पण बुद्धि से किया गया कार्य भक्ति हो जाता है। राग-द्वेष से प्रेरित कर्म जीव को बंधन में डालता है किंतु तटस्थ होकर किया गया कर्म जीव को मुक्ति के पथ पर ले जाता है।

हे यशवंत ! तेरे खजाने में जो धन है वह तेरा नहीं है, वह तो प्रजा के पसीने की कमाई है। उस धन को जो राजा अपने विषय-विलास में खर्च कर देता है, उसे रौरव नरक के दुःख भोगने पड़ते हैं, कुंभीपाक जैसे नरकों में जाना पड़ता है। जो राजा प्रजा के धन का उपयोग प्रजा के हित में, प्रजा के स्वास्थ्य के लिए, प्रजा के विकास के लिए करता है वह राजा यहाँ भी यश पाता है और उसे स्वर्ग की भी प्राप्ति होती है। हे यशवंत ! यदि वह राजा भगवान की भक्ति करे, संतों का संग करे तो भगवान के लोक को भी पा लेता है और यदि वह भगवान के लोक को पाने की भी इच्छा न करे वरन् भगवान को ही जानने की इच्छा करे तो वह भगवत्स्वरूप का ज्ञान पाकर भगवत्स्वरूप, ब्रह्मस्वरूप हो जाता है।"

फुलीबाई की अनुभवयुक्त वाणी सुनकर यशवंतसिंह पुलकित हो उठा। उसने अत्यंत श्रद्धा-भक्ति से फुलीबाई के चरणों में प्रणाम किया। फुलीबाई की वाणी में सच्चाई थी, सहजता थी और ब्रह्मज्ञान का तेज था, जिसे सुनकर यशवंतसिंह भी नतमस्तक हो गया।

कहाँ तो जोधपुर का सम्राट और कहाँ लौकिक दृष्टि से अनपढ़ फुलीबाई ! किंतु उन्होंने यशवंतसिंह को ज्ञान दिया। यह ब्रह्मज्ञान है ही ऐसा कि जिसके सामने लौकिक विद्या का कोई मूल्य नहीं होता।

यशवंतसिंह का हृदय पिघल गया। वह विचार करने लगा कि 'फुलीबाई के पास खाने के लिए विशेष भोजन नहीं है, रहने के लिए अच्छा मकान नहीं है, विषय-भोग की कोई सामग्री नहीं है फिर भी वे संतुष्ट रहती हैं और मेरे जैसे राजा को भी उनके पास आकर शांति मिलती है। सचमुच, वास्तविक सुख तो भगवान की भक्ति में एवं भगवत्प्राप्त महापुरुषों के श्रीचरणों में ही है, बाकी को संसार में जल-जलकर मरना ही है। वस्तुओं को भोग-भोगकर मनुष्य जल्दी कमजोर एवं बीमार हो जाता है, जबकि फुलीबाई कितनी मजबूत दिख रही हैं !'

यह सोचते-सोचते यशवंतसिंह के मन में एक पवित्र विचार आया कि 'मेरे रनिवास में तो कई रनियाँ रहती हैं परंतु जब देखो तब बीमार रहती हैं, झगड़ती रहती हैं, एक दूसरे की चुगली और एक-दूसरे से ईर्ष्या करती रहती हैं। यदि उन्हें फुलीबाई जैसी महान आत्मा का संग मिले तो उनका भी कल्याण हो।'

यशवंतसिंह ने हाथ जोड़कर फुलीबाई से कहा:

"माताजी ! मुझे एक भिक्षा दीजिए।"

सम्राट एक निर्धन के पास भीख माँगता है ! सच्चा सम्राट तो वही है जिसने आत्मराज्य पा लिया है। बाह्य साम्राज्य को प्राप्त किया हुआ मनुष्य तो अध्यात्ममार्ग की दृष्टि से कंगाल भी हो सकता है। आत्मराज्य को पायी हुई निर्धन फुलीबाई से राजा एक भिखारी की तरह भीख माँग रहा है।

यशवंतसिंह बोला: "माता जी ! मुझे एक भिक्षा दें।"

फुलीबाई: "राजन ! तुम्हें क्या चाहिए?"

यशवंतसिंह: "बस, माँ ! मुझे भक्ति की भिक्षा चाहिए। मेरी बुद्धि सन्मार्ग में लगी रहे एवं संतों का संग मिलता रहे।"

फुलीबाई ने उस बुद्धिमान, पवित्रात्मा यशवंतसिंह के सिर पर हाथ रखा। फुलीबाई का स्पर्श पाकर राजा गदगद हो गया एवं प्रार्थना करने लगा: "माँ ! इस बालक की एक दूसरी इच्छा भी पूरी करें। आप मेरे रनिवास में पधारकर मेरी रनियों को थोड़ा उपदेश देने की कृपा करें, ताकि उनकी बुद्धि भी अध्यात्म में लग जाय।"

फुलीबाई ने यशवंतसिंह की विनम्रता देखकर उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। नहीं तो, उन्हें रनिवास से क्या काम?

ये वे ही फुलीबाई हैं जिनके पति विवाह होते ही स्वर्ग सिधार गये थे। दूसरी कोई स्त्री होती तो रोती कि 'अब मेरा क्या होगा? मैं तो विधवा हो गयी...' परंतु फुलीबाई के माता-पिता ने उन्हें भगवान के रास्ते लगा दिया। गुरु से दीक्षा लेकर गुरु के बताये हुए मार्ग पर चलकर अब फुलीबाई 'फुलीबाई' न रहीं बल्कि 'संत फुलीबाई' हो गयीं तो यशवंतसिंह जैसा सम्राट भी उनका आदर करता है एवं उनकी चरणरज सिर पर लगाकर अपने को भाग्यशाली मानता है, 'उन्हें माता' कहकर संबोधित करता है। जो कण्डे बेचकर अपना जीवन निर्वाह करती हैं उन्हें हजारों लोग 'माता' कहकर पुकारते हैं।

धन्य है वह धरती जहाँ ऐसे भगवदभक्त जन्म लेते हैं ! जो भगवान का भजन करके भगवान के हो जाते हैं। उन्हें 'माता' कहने वाले हजारों लोग मिल जाते हैं, अपना मित्र एवं सम्बन्धी मानने के लिए हजारों लोग तैयार हो जाते हैं क्योंकि उन्होंने सच्चे माता-पिता के साथ, सच्चे सगे-सम्बन्धी के साथ, परमात्मा के साथ अपना चित्त जोड़ लिया है।

यशवंतसिंह ने फुलीबाई को राजमहल में बुलवाकर दासियों से कहा: "इन्हें खूब आदर के साथ रनिवास में जाओ ताकि रनियाँ इनके दो वचन सुनकर अपने कान को एवं दर्शन करके अपने नेत्रों को पवित्र करें।"

फुलीबाई के वस्त्रों पर तो कई पैबंद लगे हुए थे। पैबंदवाले कपड़े पहनने के बावजूद, बाजरी के मोटे रोटले खाने एवं झोंपड़े में रहने के बावजूद फुलीबाई कितनी तंदरुस्त और प्रसन्न थी और यशवंत सिंह की रनियाँ ? प्रतिदिन नये-नये व्यंजन खाती थीं, नये-नये वस्त्र पहनती थीं, महलों में रहती थीं फिर भी लड़ती-झगड़ती रहती थीं। उनमें थोड़ी आये इसी आशा से राजा ने फुलीबाई को रनिवास में भेजा।

दासियाँ फुलीबाई को आदर के साथ रनिवास में ले गयीं। वहाँ तो रनियाँ सज-धजकर, हार-श्रृंगार करके, तैयार होकर बैठी थी। जब उन्होंने पैबंद लगे मोटे वस्त्र पहनी हुई फुलीबाई को देखा तो एक दूसरे की तरफ देखने लगीं और फुसफुसाने लगीं कि यह कौन सा प्राणी आया है?"

फुलीबाई का अनादर हुआ किंतु फुलीबाई के चित्त पर चोट न लगी क्योंकि जिसने अपना आदर कर लिया, अपनी आत्मा का आदर कर लिया, उसका अनादर करके उसको चोट पहुँचाने में दुनिया का कोई भी व्यक्ति सफल नहीं हो सकता। फुलीबाई को दुःख न हुआ, ग्लानि न हुई, क्रोध नहीं आया वरन् उनके चित्त में दया उपजी कि इन मूर्ख रनियों को थोड़ा उपदेश देना चाहिए। दयालु एवं समचित्त फुलीबाई ने उन रनियों को कहा: "बेटा ! बैठो।"

दासियों ने धीरे-से जाकर रनियों को बताया कि राजा साहब तो इन्हें प्रणाम करते हैं, इनका आदर करते हैं और आप लोग कहती हैं कि "कौन सा प्राणी आया?" राजा साहब को पता चलेगा तो आपकी...."

यह सुनकर रनियाँ घबरायीं एवं चुपचाप बैठ गयीं।

फुलीबाई ने कहा: "हे रनियो ! इस हाड-मांस के शरीर को सजाकर क्या बैठी हो? गहने पहनकर, हार-श्रृंगार करके केवल शरीर को ही सजाती रहोगी तो उससे तो पति के मन में विकार उठेगा। जो तुम्हें देखेगा उसके मन में विकार उठेगा। इससे उसे तो नुकसान होगा ही, तुम्हें भी नुकसान होगा।"

शास्त्रों में श्रृंगार करने की मनाही नहीं है परंतु सात्त्विक पवित्र एवं मर्यादित श्रृंगार करो। जैसा श्रृंगार प्राचीन काल में होता था, वैसा करो। पहले वनस्पतियों से श्रृंगार के ऐसे साधन बनाये जाते थे जिनसे मन प्रफुल्लित एवं पवित्र रहता था, तन नीरोग रहता था। जैसे कि पैर में पायल पहनने से अमुक नाड़ी पर दबाव रहता है एवं उससे ब्रह्मचर्य-रक्षा में मदद मिलती है। जैसे ब्राह्मण लोग जनेऊ पहनते हैं एवं पेशाब करते समय कान पर जनेऊ लपेटते हैं तो उस नाड़ी पर दबाव पड़ने से उन्हें 'कर्ण पीडनासन' का लाभ मिलता है और स्वप्नदोष की बीमारी नहीं होती। इस प्रकार शरीर को मजबूत और मन को प्रसन्न बनाने में सहायक ऐसी हमारी वैदिक संस्कृति है।

आजकल तो पाश्चात्य जगत के ऐसे गंदे श्रृंगारो का प्रचार बढ़ गया है कि शरीर तो रोगी हो जाता है, साथ ही मन भी विकारग्रस्त हो जाता है। श्रृंगार करने वाली जिस दिन श्रृंगार नहीं करती उस दिन उसका चेहरा बूढ़ी बंदरी जैसा दिखता है। चेहरे की कुदरती कोमलता नष्ट हो जाती है। पाउडर, लिपस्टिक वगैरह से त्वचा की प्राकृतिक स्निग्धता नष्ट हो जाती है।

आनंदीबाई श्रीकृष्ण की मस्ती में मस्त रहने लगी। आनंदीबाई सुबह-शाम घर में विराजमान श्रीकृष्ण की मूर्ति के साथ बातें करती... उनसे रूठ जाती... फिर उन्हें मनाती.... और दिन में साधु-सन्तों की सेवा एवं सत्संग-श्रवण करती। इस प्रकार उसके दिन बीतने लगे।

एक दिन की बात है:

गोकुल में गोपेश्वरनाथ नामक जगह पर श्रीकृष्ण-लीला का आयोजन निश्चित किया गया था। उसके लिए अलग-अलग पात्रों का चयन होने लगा। पात्रों के चयन के समय आनंदीबाई भी वहाँ विद्यमान थीं। अंत में कुब्जा के पात्र की बात चली। उस वक्त आनंदी का पति अपनी दूसरी पत्नी एवं बच्चों के साथ वहीं उपस्थित था। अतः आनंदीबाई की खिल्ली उड़ाते हुए उसने आयोजकों के आगे प्रस्ताव रखा:

"सामने यह जो महिला खड़ी है वह कुब्जा की भूमिका अच्छी तरह से अदा कर सकती है, अतः उसे ही कहो न ! यह पात्र तो इसी पर जँचेगा। यह तो साक्षात् कुब्जा ही है।"

आयोजकों ने आनंदीबाई की ओर देखा। उसका कुरूप चेहरा उन्हें भी कुब्जा की भूमिका के लिए पसंद आ गया। उन्होंने आनंदीबाई को कुब्जा का पात्र अदा करने के लिए प्रार्थना की।

श्रीकृष्णलीला में खुद को भाग लेने का मौका मिलेगा, इस सूचनामात्र से आनंदीबाई भावविभोर हो उठी। उसने खूब प्रेम से भूमिका अदा करने की स्वीकृति दे दी। श्रीकृष्ण का पात्र एक आठ वर्षीय बालक के जिम्मे आया था।

आनंदीबाई तो घर आकर श्रीकृष्ण की मूर्ति के आगे विह्वलता से निहारने लगी एवं मन-ही-मन विचारने लगी कि 'मेरा कन्हैया आयेगा... मेरे पैर पर पैर रखेगा.... मेरी ठोड़ी पकड़कर मुझे ऊपर देखने को कहेगा....' वह तो बस, नाटक में दृश्यों की कल्पना में ही खोने लगी।

आखिरकार श्रीकृष्णलीला रंगमंच पर अभिनीत करने का समय आ गया। लीला देखने के लिए बहुत से लोग एकत्रित हुए। श्रीकृष्ण के मथुरागमन का प्रसंग चल रहा था:

नगर के राजमार्ग से श्रीकृष्ण गुजर रहे हैं... रास्ते में उन्हें कुब्जा मिली....

आठ वर्षीय बालक जो श्रीकृष्ण का पात्र अदा कर रहा था उसने कुब्जा बनी हुई आनंदी के पैर पर पैर रखा और उसकी ठोड़ी पकड़कर उसे ऊँचा किया। किंतु यह कैसा चमत्कार ! कुरूप कुब्जा एकदम सामान्य नारी के स्वरूप में आ गयी !! वहाँ उपस्थित सभी दर्शकों ने इस प्रसंग को अपनी आँखों से देखा। आनंदीबाई की कुरूपता का पता सभी को था। अब उसकी कुरूपता बिल्कुल गायब हो चुकी थी। यह देखकर सभी दाँतो तेल ऊँगली दबाने लगे!!

आनंदीबाई तो भावविभोर होकर अपने कृष्ण में ही खोयी हुई थी... उसकी कुरूपता नष्ट हो गयी यह जानकर कई लोग कुतुहलवश उसे देखने के लिए आये।

फिर तो आनंदीबाई अपने घर में बनाये गये मंदिर में विराजमान श्रीकृष्ण में ही खोयी रहतीं। यदि कोई कुछ भी पूछता तो एक ही जवाब मिलता: "मेरे कन्हैया की लीला कन्हैया ही जाने...."

आनंदीबाई ने अपने पति को धन्यवाद देने में भी कोई कसर बाकी न रखी। यदि उसकी कुरूपता के कारण उसके पति ने उसे छोड़ न दिया होता तो श्रीकृष्ण में उसकी इतनी भक्ति कैसे जागती? श्रीकृष्णलीला में

यह सुनकर सिरमा ने अपना संतुलन न खोया क्योंकि वह प्रतिदिन भगवान का ध्यान करती थी एवं शांत स्वभाव का धन, विवेक-वैराग्यरूपी धन और विपत्तियों में भी प्रसन्न रहने की समझ का धन उसके पास था।

सुविधाएँ हो और आप प्रसन्न रहें- इतना तो लालिया, मोतिया और कालिया कुत्ता भी जानता है। वह भी जलेबी देखकर पूँछ हिला देता है और डंडा देखकर पूँछ दबा देता है। सुख में सुखी एवं दुःख में दुःखी नहीं होता लेकिन सर्वोत्तम तो वह है जो सुख-दुःख को सपना मानता है एवं सच्चिदानंद परमात्मा को अपना मानता है।

सिरमा ने कहा: "नाथ ! आपकी परेशानी का कारण तो मैं जानती हूँ, उसे दूर करने में मैं पूरा सहयोग दूँगी। आप अपनी परेशानियों को मिटाने में मेरे पूरे अधिकार का उपयोग कर सकते हैं। कोई उपाय खोजा जायेगा।"

इतने में ही मंदारमाला की नौकरानी आकर बोली:

"सुमंगल ! आपको मेरी मालकिन अपने महल में बुला रही हैं।"

सिरमा ने कहा: "जाकर अपनी मालकिन से कह दो कि इस बड़े घर की बहुरानी बनना चाहती हो तो तुम्हारे लिए द्वार खुले हैं। सिरमा अपने सारे अधिकार तुम्हें सौंपने को तैयार है लेकिन इस बड़े खानदान के लड़के को अपने अड़्डे पर बुलाकर कलंक का टीका मत लगाओ। यह मेरी प्रार्थना है।"

सिरमा की नम्रता ने मंदारमाला के हृदय को द्रवित कर दिया और वह वस्त्रालंकार से सुसज्जित होकर सुमंगल के घर आ गयी। सिरमा ने दोनों का गंधर्व विवाह करवा दिया और किसी सच्चे संत से दीक्षा लेकर स्वयं साध्वी बन गयी। सिरमा की समझ व मंत्रजाप की तत्परता ने उसे ऋद्धि-सिद्धि की मालकिन बना दिया। सिरमा का मनोबल, बुद्धिबल, तपोबल और यौगिक सामर्थ्य इतना निखरा कि कई साधक सिरमा को प्रणाम करने आने लगे।

एक दिन एक साधक, जिसका सिर फूटा हुआ था और खून बह रहा था, सिरमा के पास आया। सिरमा ने पूछा: "भिक्षुक ! तुम्हारा सिर फूटा है.... क्या बात है?"

भिक्षुक: "मैं भिक्षा लेने के लिए सुमंगल के घर गया था। मंदारमाला के हाथ में जो बर्तन था वही बर्तन उन्होंने मेरे सिर पर दे मारा। इससे मेरा सिर फूट गया।"

सिरमा को बड़ा दुःख हुआ कि मंदारमाला को पूरी जायदाद मिल गयी और मेरा ऐसा सुन्दर, धनी , पवित्र स्वभाववाला व्यापारी पति मिल गया, फिर वह क्यों दुःखी है? संसार में जब तक सच्ची समझ, सच्चा ज्ञान नहीं मिलता, तब तक मनुष्य के दुःखों का अंत नहीं होता। शायद वह दुःखी होगी।.... और दुःखी व्यक्ति ही साधुओं को दुःख देगा। सज्जन व्यक्ति साधुओं को दुःख नहीं देगा वरन् उनसे सुख लेगा, आशीर्वाद ले लेगा। मंदारमाला अति दुःखी है, तभी उसने भिक्षुक को भी दुःखी कर दिया।

सिरमा गयी मंदारमाला के पास और बोली: "मंदारमाला ! उस भिक्षुक के, अकिंचन साधु के भिक्षा माँगने पर तू भिक्षा नहीं देती तो चलता, लेकिन उसका सिर क्यों फोड़ दिया?"

मंदारमाला: बहन ! मैं बहुत दुःखी हूँ। सुमंगल ने तुझे छोड़कर मुझसे शादी की और अब मेरे होते हुए एक दूसरी नर्तकी के यहाँ जाता है। वह मुझसे कहता है कि मैं परसों उसके साथ शादी कर लूँगा। मैंने तो अपने

गोदावरी नदी के तट पर स्थित गंगाखेड (जि. परमणी, महाराष्ट्र) गाँव में दमाजी के यहाँ जनाबाई का जन्म हुआ था। जनाबाई के बचपन उसकी माँ चल बसी। माँ का अग्निसंस्कार करके जब पिता घर आये तब नन्हीं-सी जना ने पूछा:

"पिताजी ! माँ कहाँ गयी?"

पिता: "माँ पंढरपुर में भगवान विठ्ठल के पास गयी है।"

एक दिन, दो दिन... पाँच दिन... दस दिन... पच्चीस दिन बीत गये। "माँ अभी तक नहीं आयी? पंढरपुर में विठ्ठल के पास बैठी है? पिता जी ! मुझे भी विठ्ठल के पास ले चलो।" नन्हीं सुकन्या जना ने जिद की।

पिता बेटी को पंढरपुर ले आये। चंद्रभागा नदी में स्नान करके विठ्ठल के मंदिर में गये। नन्हीं-सी जना विठ्ठल से पूछने लगी: "मेरी माँ कहाँ गयी? विठ्ठल ! बुलाओ न, मेरी माँ को।"

'विठ्ठल, विठ्ठल...' करके जना रोने लगी। पिता ने समझाने की खूब कोशिश की किंतु नन्हीं सी बालिका की क्या समझ में आता? इतने में वहाँ दामा शेट एवं उनकी धर्मपत्नी गोणाई बाई आये। भक्त नामदेव इन्हीं की सन्तान थे। बालिका को देखकर उनका वात्सल्य जाग उठा। उन्होंने जना के पिता से कहा:

"अब यह पंढरपुर छोड़कर तो जायेगी नहीं। आप इसे यहीं छोड़ जाइये। हम इसे अपनी बेटी के समान रखेंगे। यह यहीं रहकर विठ्ठल के दर्शन करेगी और अपनी माँ के लिए विठ्ठल के दर्शन करेगी और अपनी माँ के लिए विठ्ठल को पुकारते-पुकारते अगर इसे भक्ति का रंग लग जाये तो अच्छा ही है।"

जना के पिता सहमत हो गये एवं जनाबाई को वहीं छोड़ गये। जना को बाल्यकाल से ही भक्त नामदेव का संग मिल गया। जना वहाँ रहकर विठ्ठल के दर्शन करती एवं घर के काम-काज में हाथ बँटाती थी। धीरे-धीरे जना की भगवदभक्ति बढ़ गयी।

समय पाकर नामदेव जी का विवाह हो गया। फिर भी जना उनके घर के सब काम करती थी एवं रोज नियम से विठ्ठल के दर्शन करने भी जाती थी।

एक बार काम की अधिकता से वह विठ्ठल के दर्शन करने देर से जा पायी। रात हो गयी थी, सब लोग जा चुके थे। विठ्ठल के दर्शन करके जना घर लौट आयी लेकिन दूसरे दिन सुबह विठ्ठल भगवान के गले में जो स्वर्ण की माला थी, वह गायब हो गयी !

मंदिर के पुजारी ने कहा: "सबसे आखिर में जनाबाई आयी थी।"

जनाबाई को पकड़ लिया गया। जना ने कहा: "मैं किसी की सुई भी नहीं लेती तो विठ्ठल भगवान का हार कैसे चोरी करूँगी?"

लेकिन भगवान भी मानों, परीक्षा करके अपने भक्त का आत्मबल और यश बढ़ाना चाहते थे। राजा ने फरमान जारी कर दिया: "जना झूठ बोलती है। इसको सरे बाजार से बेंत मारते-मारते ले जाया जाये एवं जहाँ सबको सूली पर चढ़ाया जाता है, वहीं सूली पर चढ़ा दिया जाय।"

सिपाही जनाबाई को लेने आये। जनाबाई अपने विठ्ठल को पुकारती जा रही थी: "हे मेरे विठ्ठल ! मैं क्या करूँ? तुम तो सब जानते ही हो..."

मुक्ताबाई का सर्वत्र विट्ठल-दर्शन

श्रीनिवृत्तिनाथ, ज्ञानेश्वर एवं सोपानदेव की छोटी बहन थी मुक्ताबाई। जन्म से ही चारों सिद्ध योगी, परम विरक्त एवं सच्चे भगवदभक्त थे। बड़े भाई निवृत्तिनाथ ही सबके गुरु थे।

नन्हीं सी मुक्ता कहती: "विट्ठल ही मेरे पिता हैं। शरीर के माता-पिता तो मर जाते हैं लेकिन हमारे सच्चे माता-पिता, हमारे परमात्मा तो सदा साथ रहते हैं।"

उसने सत्संग में सुन रखा था कि 'विट्ठल केवल मंदिर में ही नहीं, विट्ठल तो सबका आत्मा बना बैठा है। सारे शरीरों में उसी की चेतना है। वह कीड़ी में छोटा और हाथी में बड़ा लगता है। विद्वानों की विद्या की गहराई में उसी की चेतना है। बलवानों का बल उसी परमेश्वर का है। संतों का संतत्व उसी परमात्म-सत्ता से है। जिसकी सत्ता से आँखें देखती हैं, कान सुनते हैं, नासिका श्वास लेती है, जिह्वा स्वाद का अनुभव करती है वही विट्ठल है।'

मुक्ताबाई किसी पुष्प को देखती तो प्रसन्न होकर कह उठती कि विट्ठल बड़े अच्छे हैं।

एक दिन मुक्ताबाई कह उठी: "विट्ठल ! तुम कितने गंदे हो। ऐसी गंदगी में रहते हो।"

किसी ने पूछा: "कहाँ है विट्ठल?"

मुक्ताबाई: "देखो न, इस गंदी नाली में विट्ठल कीड़ा बने बैठे हैं।"

मुक्ताबाई की दृष्टि कितनी सात्विक हो गयी थी ! वह सर्वत्र अपने विट्ठल के दीदार कर रही थी।

चारों बच्चों को एक संन्यासी के बच्चे मानकर कट्टरवादियों ने उन्हें नमाज से बाहर कर दिया था। उनके माता-पिता के साथ तो जुल्म किया ही था, बच्चों को भी समाज से बाहर कर रखा था। अतः कोई उन्हें मदद नहीं करता था। पेट को आहुति देने के लिए वे बच्चे भिक्षा माँगने जाते थे।

दीपावली के दिन वह बारह वर्षीया मुक्ताबाई निवृत्तिनाथ से पूछती है: "भैया ! आज दीपावली है, क्या बनाऊँ?"

निवृत्तिनाथ: "बहन ! मेरी तो मर्जी है कि आज मीठे चीले बना ले।"

ज्ञानेश्वर: "तीखे भी तो अच्छे लगते हैं।"

मुक्ताबाई हर्ष से बोल पड़ी: "मीठे भी बनाऊँगी और नमकीन भी। आज तो दीपावली है।"

बाहर से तो दरिद्रता दिखती है, समाजवालों ने बहिष्कृत कर रखा है, न धन है, न दौलत, न बैंक बैलेन्स है। न कार है न बँगला। साधारण सा घर है, फिर भी विट्ठल के भाव में सराबोर हृदय के भीतर का सुख असीम है।

मुक्ताबाई ने अंदर जाकर देखा तो तवा ही नहीं था क्योंकि विसोबा चाटी ने रात्री में ही सारे बर्तन चोरी करवा दिये थे। बिना तवे के चीले कैसे बनेंगे? वह "भैया ! मैं कुम्हार के यहाँ से रोटी सेंकने का तवा ले आती हूँ।" ऐसा कह जल्दी से निकल पड़ी तवा लाने के लिए। लेकिन विसोबा चाटी ने सभी कुम्हारों को डाँटकर मना कर दिया था कि 'खबरदार ! इसको तवा दिया तो तुमको जाति से बाहर करवा दूँगा।'

घूमते-घूमते कुम्हारों के द्वार खटखटाते हुए आखिर उदास होकर वापस लौटी। मजाक उड़ाते हुए विसोबा चाटी ने पूछा: "क्यों? कहाँ गयी थी?"

मुक्ता ने सरलता से उत्तर दिया: "मैं बाहर से तवा लेने गयी थी लेकिन कोई देता ही नहीं है।"

घर पहुँचते ही ज्ञानेश्वर ने उसकी उदासी का कारण पूछा तो मुक्ता ने सारा हाल सुना दिया।

ज्ञानेश्वर: "कोई बात नहीं। तू आटा तो मिला।"

मुक्ताबाई: "आटा तो मिला मिलाया है।"

ज्ञानेश्वर नंगी पीठ करके बैठ गये। उन योगिराज ने प्राणों का संयम करके पीठ पर अग्नि की भावना की। पीठ तप्त तवे की भाँति लाल हो गयी। "ले जितनी रोटी या चीले सेंकने हो, इस पर सेंक ले।"

मुक्ताबाई स्वयं योगिनी थी। भाइयों की शक्ति को जानती थी। उसने बहुत से मीठे और नमकीन चीले व रोटियाँ बना लीं। फिर कहा: "भैया ! अपने तवे को शीतल कर लो।"

ज्ञानेश्वर ने अग्निधारण का उपसंहार कर दिया।

संकल्प बल से तो अभी भी कुछ लोग चमत्कार करके दिखाते हैं। ज्ञानेश्वर महाराज ने अग्नि तत्त्व की धारणा करके अग्नि को प्रकट कर दिया था। वे सत्य-संकल्प एवं योगशक्ति-संपन्न पुरुष थे। जैसे आप स्वप्न में अग्नि, जल आदि सब बना लेते हैं, वैसे ही योगशक्ति-संपन्न पुरुष जाग्रत में जिस तत्त्व की धारणा करें उसे बढ़ा अथवा घटा सकते हैं।

जल तत्त्व की धारणा सिद्ध हो जाये तो आप जहाँ जल में गोता मारो और हजारों मील दूर निकलो। पृथ्वी तत्त्व की धारणा सिद्ध है तो आपको यहाँ गाड़ दें और आप हजारों मील दूर प्रकट हो जाओ। ऐसे ही वायु तत्त्व, अग्नि तत्त्व आदि की धारणा भी सिद्ध की जा सकती है। कबीरजी के जीवन में भी ऐसे चमत्कार हुए थे और दूसरे योगियों के जीवन में भी देखे-सुने गये थे।

मेरे गुरुदेव परम पूज्य स्वामी श्रीलीलाशाहजी महाराज ने नीम के पेड़ को आज्ञा दी कि 'तू अपनी जगह पर जा।' तो वह पेड़ चल पड़ा। तबसे 'लीलाराम' में से 'श्री लीलाशाह' के नाम से वे प्रसिद्ध हुए। योगशक्ति में बड़ा सामर्थ्य होता है।

आप ऐसा सामर्थ्य पा लो, ऐसा मेरा आग्रह नहीं है, लेकिन थोड़े से सुख के लिए, क्षणिक सुख के लिए बाहर न भागना पड़े ऐसे स्वाधीन हो जाओ। सिद्धियाँ पाने की कुबेर साधना करना आवश्यक नहीं है लेकिन सुख-दुःख के झटकों से बचने की सरल साधना अवश्य कर लो।

निवृत्तिनाथ भोजन करते हुए भोजन की प्रशंसा कर रहे थे: "मुक्ति ने निर्मित किये और ज्ञान की अग्नि में सेंके गये चीले के स्वाद का क्या पूछना !"

निवृत्तिनाथ, ज्ञानेश्वर एवं सोपानदेव तीनों भाइयों ने भोजन कर लिया था। इतने में एक बड़ा सा काला कुत्ता आया और बाकी चीले लेकर भागा।

निवृत्तिनाथ ने कहा: "अरे, मुक्ता ! मार जल्दी इस कुत्ते को। तेरे हिस्से के चीले वह ले जा रहा है। तू भूखी रह जायेगी।"

कलियुग में बुरी बात फैलाना बड़ा आसान है। जिसके अन्दर बुराइयाँ हैं वह आदमी दूसरों की बुरी बात जल्दी से मान लेता है।

उन लड़कियों के पिता और भाई भी ऐसे ही थे। उन्होंने लड़कियों की खूब पिटाई की और कहा: "तुम लोगों ने तो हमारी इज्जत खराब कर दी। हम बाजार से गुजरते हैं तो लोग बोलते हैं कि इन्हीं की दो लड़कियाँ हैं, जिनके साथ नरसिंह मेहता का...."

खूब मार-पीटकर उन दोनों को कमरे में बन्द कर दिया और अलीगढ़ के बड़े-बड़े ताले लगा दिये। फिर चाबी अपनी जेब में डालकर दोनों चल दिये कि 'देखें', आज कथा में क्या होता है।'

उन दोनों लड़कियों में से एक रतनबाई रोज सत्संग-कीर्तन के दौरान अपने हाथों से पानी का गिलास भरकर भाव भरे भजन गाने वाले नरसिंह मेहता के होठों तक ले जाती थी। लोगों ने रतनबाई का भाव एवं नरसिंह मेहता की भक्ति नहीं देखी, बल्कि पानी पिलाने की बाह्य क्रिया को देखकर उलटा अर्थ लगा लिया।

सरपंच ने घोषित कर दिया: "आज से नरसिंह मेहता गाँव के चौराहे पर ही सत्संग-कीर्तन करेंगे, घर पर नहीं।"

नरसिंह मेहता ने चौराहे पर सत्संग-कीर्तन किया। विवादित बात छिड़ने के कारण भीड़ बढ़ गयी थी। कीर्तन करते-करते रात्री के 12 बज गये। नरसिंह मेहता रोज इसी समय पानी पीते थे, अतः उन्हें प्यास लगी।

इधर रतनबाई को भी याद आया कि 'गुरुजी को प्यास लगी होगी। कौन पानी पिलायेगा?' रतनबाई ने बंद कमरे में ही मटके में से प्याला भरकर, भावपूर्ण हृदय से आँखें बंद करके मन-ही-मन प्याला गुरुजी के होठों पर लगाया।

जहाँ नरसिंह मेहता कीर्तन-सत्संग कर रहे थे, वहाँ लोगों को रतनबाई पानी पिलाती हुई नजर आयी। लड़की का बाप एवं भाई दोनों आश्चर्यचकित हो उठे कि 'रतनबाई इधर कैसे?'

वास्तव में तो रतनबाई अपने कमरे में ही थी। पानी का प्याला भरकर भावना से पिला रही थी, लेकिन उसकी भाव की एकाकारता इतनी सघन हो गयी कि वह चौराहे के बीच लोगों को दिखी।

अतः मानना पड़ता है कि जहाँ आदमी का मन अत्यंत एकाकार हो जाता है, उसका शरीर दूसरी जगह होते हुए भी वहाँ दिख जाता है।

रतनबाई के बाप ने पुत्र से पूछा: "रतन इधर कैसे?"

रतनबाई के भाई ने कहा: "पिताजी ! चाबी तो मेरी जेब में है !"

दोनों भागे घर की ओर। ताला खोलकर देखा तो रतनबाई कमरे के अंदर ही है और उसके हाथ में प्याला है। रतनबाई पानी पिलाने की मुद्रा में है। दोनों आश्चर्यचकित हो उठे कि यह कैसे !

संत एवं समाज के बीच सदा से ही ऐसा ही चलता आया है। कुछ असामाजिक तत्व संत एवं संत के प्यारों को बदनाम करने की कोई भी कसर बाकी नहीं रखते। किंतु संतों-महापुरुषों के सच्चे भक्त उन सब बदनामियों की परवाह नहीं करते, वरन् वे तो लगे ही रहते हैं संतों के दैवी कार्यों में।

ठीक ही कहा है:

इल्जाम लगानेवालों ने इल्जाम लगाये लाख मगर।

पुत्र में दिव्य संस्कार डालने वाली पुण्यशीला माताएँ तो इस धरा पर कई हो गयीं। विनोबा भावे की माता ने उन्हें बाल्यकाल से ही उच्च संस्कार डाले थे। बाल्यकाल से ही शिवाजी में भारतीय संस्कृति की गरिमा एवं अस्मिता की रक्षा के संस्कार डालनेवाली भी उनकी माता जीजाबाई ही थीं, लेकिन पुत्र को गुरु मानने का भाव.... देवहूति के सिवाय किसी अन्य माता में मैंने आज तक नहीं देखा था।

मेरी माँ पहले तो मुझे पुत्रवत प्यार करती थीं लेकिन जबसे उनकी मेरे प्रति गुरु की नजर बनी, तबसे मेरे साथ पुत्ररूप से व्यवहार नहीं किया। वे अपनी सेविका से हमेशा कहतीं-

"साईंजी आये हैं.... साईंजी का जो खाना बचा है वह मुझे दे दे...." आदि-आदि।

एक बार की बात है। माँ ने मुझसे कहा: "प्रसाद दो।"

हद हो गयी ! ऐसी श्रद्धा ! पुत्र में इस प्रकार की श्रद्धा कोई साधारण बात है? उनकी श्रद्धा को नमन है बाबा !

मेरी ये माता शरीर को जन्म देनेवाली माता तो हैं ही, भक्तिमार्ग की गुरु भी हैं, समता में रहने वाली और समाज के उत्थान की प्रेरणा देने वाली माता भी हैं। यही नहीं, इन सबसे बढ़कर इन माता ने एक ऐसी गजब की भूमिका अदा की है कि जिसका उल्लेख इतिहास में कभी-कभार ही दिखाई पड़ता है। सतियों की महिमा हमने पढ़ी, सुनी, सुनायी.... अपने पति को परमात्मा माननेवाली देवियों की सूची भी हम दिखा सकते हैं, लेकिन पुत्र में गुरुबुद्धि..... पुत्र में परमात्मबुद्धि... ऐसी श्रद्धा हमने एक देवहूति माता में देखी, जो कपिल मुनि को अपना गुरु मानकर, आत्म-साक्षात्कार करके तर गयीं और दूसरी ये माता मेरे ध्यान में हैं।

एक बार मैं अचानक बाहर चला गया और जब लौटा तो सेविका ने बताया कि "माताजी बात नहीं करती हैं।"

मैंने पूछा: "क्यों?"

सेविका: "वे कहती हैं कि साँई मना कर गये हैं कि किसी से बात नहीं करना तो क्यों बातचीत करूँ?"

मेरे निकटवर्ती कहलाने वाले शिष्य भी मेरी आज्ञा पर ऐसा अमल नहीं करते होंगे, जैसा इन देवीस्वरूपा माता ने अमल करके दिखाया है। माँ की श्रद्धा की कैसी पराकाष्ठा है ! मुझे ऐसी माँ का बेटा होने का व्यावहारिक गर्व है और ब्रह्मज्ञानी गुरु का शिष्य होने का भी गर्व है।

'प्रभु ! मुझे जाने दो....'

मेरी माँ मुझे बड़े आदर भाव से देखा करती थीं। जब उनकी उम्र करीब 86 वर्ष की थी तब उनका शरीर काफी बीमार हो गया था। डॉक्टरों ने कहा: "लीवर और किडनी दोनों खराब हैं। एक दिन से ज्यादा नहीं जी सकेंगी।"

23घण्टे बीत गये। मैंने अपने वैद्य को भेजा तो वैद्य भी उतरा हुआ मुँह लेकर मेरे पास आया और बोला: "बापू ! एक घण्टे से ज्यादा नहीं निकाल पायेंगी माँ।"

मैंने कहा: "भाई ! तू कुछ तो कर ! मेरा वैद्य है... इतने चिकित्सालय देखता है..."

वैद्य: "बापू ! अब कुछ नहीं हो सकेगा।"

माँ कराह रही थी। करवट भी नहीं ले पा रही थीं। जब लीवर और किडनी दोनों निष्क्रिय हों तो क्या करेंगे आपके इंजेक्शन और दवाएँ? मैं गया माँ के पास तो माँ ने इस ढंग से हाथ जोड़े मानों, जाने की आज्ञा माँग रही हों। फिर धीरे से बोलीं-

"प्रभु ! मुझे जाने दो।"

ऐसा नहीं कि, 'बेटा मुझे जाने दो..' नहीं, नहीं। माँ ने कहा: "भगवान ! मुझे जाने दो.... प्रभु ! मुझे जाने दो।"

मैंने उनके प्रभु-भाव और भगवान भाव का जी भरकर फायदा उठाया और कहा:

"मैं नहीं जाने देता। तुम कैसे जाती हो, मैं देखता हूँ।"

माँ बोली: "प्रभु ! पर मैं करूँ क्या?"

मैंने कहा: "मैं स्वास्थ्य का मंत्र देता हूँ।"

उर्वर भूमि पर उलटा-सीधा बीज बड़े तो भी उगता है। माँ का हृदय ऐसा ही था। मैंने उनको मंत्र दिया और उन्होंने रटना चालू किया। एक घण्टे में जो मरने की नौबत देख रही थीं, अब एक घण्टे के बाद उनके स्वास्थ्य में सुधार शुरू हो गया। फिर एक महीना... दो महीने.... पाँच महीने... पंद्रह महीने... पच्चीस महीने.... चालीस महीने.... ऐसा करते-करते साठ से भी ज्यादा महीने हो गये। तब वे 86 वर्ष की थीं, अभी 92 वर्ष पार कर गयीं। जब आज्ञा मिली... रोकने का संकल्प लगाया तो उसे हटाने का कर्तव्य भी मेरा था। अतः आज्ञा मिलने पर ही उन्होंने शरीर छोड़ा। गुरुआज्ञा-पालन का कैसा दृढ़ भाव !

इच्छाओं से परे: माँ महँगीबा

एक बार मैंने माँ से कहा: "आपको सोने में तौलेंगे।"

...लेकिन उनके चेहरे पर हर्ष का कोई चिह्न नजर नहीं आया।

मैंने पुनः हिला-हिलाकर कहा: "आपको सोने में तौलेंगे, सोने में।"

मा: "यह सब मुझे अच्छा नहीं लगता।"

मैंने कहा: "तुला हुआ सोना महिला आश्रम ट्रस्ट में जमा करेंगे। फिर महिलाओं और गरीबों की सेवा में लगेगा।"

माँ- "हाँ... सेवा में भले लगे, लेकिन मेरे को तौलना-वौलना नहीं।"

सुवर्ण महोत्सव के पहले ही माँ की यात्रा पूरी हो गयी। बाद में सुवर्ण महोत्सव के निमित्त जो भी करना था, वह किया ही।

मैंने कहा: "आपका मंदिर बनायेंगे।"

माँ- "ये सब कुछ नहीं करना है।"

मैं- "आपकी क्या इच्छा है? हरिद्वार जायें?"

माँ- "वहाँ तो नहाकर आये।"

मैं- "क्या खाना है? यह खाना है?"

माँ- "मुझे अच्छा नहीं लगता।"

कई बार विनोद का समय मिलता तो हम पूछते। कई ख्वाहिश पूछ-पूछकर थक गये लेकिन उनकी कोई ख्वाहिश हमको दिखी नहीं। अगर उनकी कोई भी इच्छा होती तो उनके इच्छित पदार्थ को लाने की सुविधा मेरे पास थी। किसी व्यक्ति से, पुत्र से, पुत्री से, कुटुम्बी से मिलने की इच्छा होती तो उनसे भी मिला देते। कहीं जाने की इच्छा होती तो वहाँ ले जाते लेकिन उनकी कोई इच्छा ही नहीं थी।

न उनमें कुछ खाने की इच्छा थी, न कहीं जाने की, न किसी से मिलने की इच्छा थी, न ही यश-मान की... तभी तो उन्हें इतना मान मिल रहा है। जहाँ मान-अपमान सब स्वप्न है, उसमें उनकी स्थिति हुई, इसीलिए ऐसा हो रहा है।

इस प्रसंग से करोड़ों-करोड़ों लोगों को, समग्र मानव-जाति को जरूर प्रेरणा मिलेगी।

अनुक्रम

जीवन में कभी फरियाद नहीं.....

मैंने अपनी माँ को कभी कोई फरियाद करते हुए नहीं देखा कि 'मुझे इसने दुःख दिया.. उसने कष्ट दिया... यह ऐसा है.... जब हम घर पर थे, तब बड़ा भाई जाकर मेरे बारे में माँ से फरियाद कि "वह तो दुकान पर आता ही नहीं है।"

माँ मुझसे कहतीं- "अब क्या करूँ। वह तो ऐसा बोलता है।"

जब माँ आश्रम में रहने लगी तब भी आश्रम की बच्चियों की कभी फरियाद नहीं... आश्रम के बच्चों की कभी फरियाद नहीं। कैसा मूक जीवन ! ऐसी आत्माएँ धरती पर कभी-कभार ही आती हैं, इसीलिए वह वसुन्धरा टिकी हुई है। मुझे इस बात का बड़ा संतोष है कि ऐसी तपस्विनी माता की कोख से यह शरीर पैदा हुआ है।

उनके चित्त की निर्मलता से मुझे तो बड़ी मदद मिली, आप लोगों को भी बड़ा अच्छा लगता होगा। मुझे तो लगता है कि जो भी महिलाएँ माँ के निकट आयी होंगी, उनके हृदय में माता के प्रति अहोभाव जग ही गया होगा।

मैं तो संत की माँ हूँ... ये लोग साधारण हैं...' ऐसा भाव कभी किसी ने उनमें नहीं देखा। अथवा 'हम बड़े हैं... पूजने योग्य हैं... लोग हमें प्रणाम करें... मान दें.... ऐसा किसी ने उनमें नहीं देखा अपितु यह जरूर देखा है कि वे किसी को प्रणाम नहीं करने देती थीं।

ऐसी माँ के संपर्क में हम आये हैं तो हमें भी ऐसा चित्त बनाना चाहिए कि हम भी सुख-दुःख में सम रहें। अपनी आवश्यकताएँ कम करें। हृदय में भेदभाव न रहे। सबके मंगल का भाव रखें।

अनुक्रम

बीमारों के प्रति माँ की करुणा

मुझे इस बात का पता अभी तक नहीं थी, अभी रसोइये ने और दूसरे लोगों ने बताया कि जब भी कोई आश्रमवासी बीमार पड़ जाता तो माँ उसके पास स्वयं चली जाती थीं। संचालक रामभाई ने बताया कि "एक बार मैं बहुत बीमार पड़ गया तो माँ आर्यी और मेरे ऊपर से कुछ उतारा करके उसे अग्नि में फेंक दिया। उन्होंने ऐसा तीन दिन तक किया और मैं ठीक हो गया।"

दूसरे लड़कों ने भी बताया कि "हमको भी कभी कुछ होता और माँ को पता चलता तो वे देखने आ ही जाती थीं।"

एक बार आश्रम में किसी महिला को बुखार हो गया तो माँ स्वयं उसका सिर दबाने बैठ गयीं। महिला आश्रम में भी कोई साधिका बीमार पड़ती तो माँ उसका ध्यान रखतीं। यदि वह ऊपर के कमरे में होती तो माँ कहतीं- "बेचारी को नीचे का कमरा दो, बीमारी में ऊपर-नीचे आना-जाना नहीं कर पायेगी।" ऐसा था उनका परदुःखकातर हृदय !

अनुक्रम

'कोई कार्य घृणित नहीं है....'

एक बार आश्रम के एक बुजुर्ग साधक ने एक लड़के का कच्छा-लँगोट गंदा देखा तो उसको फटकार लगायी। लेकिन माँ तो ऐसे कई कच्छे-लँगोट चुपचाप धोकर बच्चों के कमरे के किनारे रख देती थीं। कई गंदे-मैले कच्छे, जिन्हे खुद भी धोने में घृणा होती हो, ऐसे कपड़ों को धोकर माँ बच्चों के कमरों के किनारे चुपचाप रख दिया करतीं।

कैसा उदार हृदय रहा होगा माँ का ! कैसा दिव्य वात्सल्यभाव रहा होगा ! अंतःकरण में व्यावहारिक वेदान्त की कैसी दिव्य धारा रही होगी ! सभी के प्रति कैसी दिव्य संतान भावना रही होगी !

सफाई के जिस कार्य को लोग घृणित समझते हैं, उस कार्य को करने में भी माँ को घृणा नहीं होती थी। कितनी उनकी महानता ! सचमुच, वे शबरी माँ ही थीं।

अनुक्रम

ऐसी माँ के लिए शोक किस बात का?

जिस दिन मेरे सदगुरुदेव का महानिर्वाण हुआ, उसी दिन मेरी माता का भी महानिर्वाण हुआ। 4 नवम्बर, 1999 तदनुसार एकादशी का दिन, कार्तिक का महीना, गुजरात के मुताबिक आश्विन, संवत् 2055 एवं गुरुवार। न इंजेक्शन भुक्वाये, न आक्सीजन पर रहीं, न अस्पताल में भर्ती हुईं वरन् आश्रम की एकांत जगह पर, ब्राह्ममुहूर्त में 5 बजकर 37 मिनट पर बिना किसी ममता-आसक्ति के उनका नश्वर देह छूटा। पंछी पिंजरा छोड़कर आजाद हुआ, ब्रह्म हुआ तो शोक किस बात का?

व्यवहारकाल में लोग बोलते हैं कि 'बापू जी ! यह शोक की वेला है। हम सब आपके साथ हैं...' ठीक है, यह व्यवहार की भाषा है लेकिन सच्ची बात तो यह है कि मुझे शोक हुआ ही नहीं है। मुझमें तो बड़ी शांति, बड़ी समता है क्योंकि माँ अपना काम बनाकर गयी हैं।

संत मरे क्या रोड़ये, वे जायें अपने घर...

माँ ने आत्मज्ञान के उजाले में देह का त्याग किया है। शरीर से स्वयं को पृथक् मानने की उनकी रूचि थी, वासना को मिटाने की कुंजी उनके पास थी, यश और मान से वे कोसों दूर थीं। ॐ....ॐ.... का चिंतन-गुंजन करके, अंतर्मन में यात्रा करके दो दिन के बाद वे विदा हुईं।

जैसे कपिल मुनि की माँ देवहूति आत्मरामी हुईं ऐसे ही माँ महँगीबा आत्मरामी होकर, नश्वर चोले को छोड़कर, शाश्वत सत्ता में लीन हुईं अथवा संकल्प करके कहीं भी प्रकट हो सकें, ऐसी दशा में पहुँचीं। ऐसी माँ के लिए शोक किस बात का?

जिनके जीवन में कभी किसी के लिए फरियाद नहीं रही, ऐसी आत्माएँ धरती पर कभी-कभार ही आती हैं। इसीलिए यह वसुन्धरा टिकी हुई है।

मुझे इस बात का भी संतोष है कि आखिरी दिनों में मैं उनके ऋण से थोड़ा मुक्त हो पाया। इधर-उधर के कई कार्यक्रम होते रहते थे लेकिन हम कार्यक्रम ऐसे ही बनाते कि माँ याद करें और हम पहुँच जायें।

मेरे गुरुजी जब इस संसार से विदा हुए तो उन्होंने भी मेरी ही गोद में महाप्रयाण किया और मेरी माँ के महानिर्वाण के समय भी भगवान ने मुझे यह अवसर दिया-इस बात का मुझे संतोष है।

मंगल मनाना यह तो हमारी संस्कृति में है लेकिन शोक मनाना - यह हमारी संस्कृति में नहीं है। हम श्रीरामचंद्रजी का प्राकट्य दिवस - रामनवमी बड़ी धूमधाम से मनाते हैं लेकिन श्रीकृष्ण और श्रीरामजी जिस दिन विदा हुए, उसे हम शोकदिवस के रूप में नहीं मनाते हैं, हमें उस दिन का पता ही नहीं है।

शोक और मोह - ये आत्मा की स्वाभाविक दशाएँ नहीं हैं। शोक और मोह तो जगत को सत्य मानने की गलती से होता है। इसीलिए अवतारी महापुरुषों की विदाई का दिन भी हमको याद नहीं कि किस दिन वे विदा हुए और हम शोक मनायें।

हाँ, किन्हीं-किन्हीं महापुरुषों की निर्वाण तिथि जरूर मनाते हैं जैसे, वाल्मीकि निर्वाण तिथि, बुद्ध की निर्वाण तिथि, कबीर, नानक, श्रीरामकृष्णपरमहंस अथवा श्रीलीलाशाहजी बापू आदि ब्रह्मवेत्ता महापुरुषों की निर्वाण तिथि मनाते हैं, लेकिन उस तिथि को हम शोक दिवस के रूप में नहीं मनाते वरन् उस तिथि को हम मनाते हैं उनके उदार विचारों का प्रचार-प्रसार करने के लिए, उनके मांगलिक कार्यों से सत्प्रेरणा पाने के लिए।

हम शोक दिवस नहीं मनाते हैं क्योंकि सनातन धर्म जानता है कि आपका स्वभाव अजर, अमर, अजन्मा, शाश्वत और नित्य है और मृत्यु शरीर की होती है। हम भी ऐसी दशा को प्राप्त हों, इस प्रकार के संस्मरणों का आदान-प्रदान निर्वाण तिथि पर करते हैं, महापुरुषों के सेवाकार्यों का स्मरण करते हैं एवं उनके दिव्य जीवन से प्रेरणा पाकर स्वयं भी उन्नत हो सकें - ऐसी उनसे प्रार्थना करते हैं।

(परम पूज्य संत श्री आसारामजी बापू की पूजनीया मातुश्री माँ महँगीबा अर्थात् हम सबकी पूजनीया अम्मा के विशाल एवं विराट व्यक्तित्व का वर्णन करना मानों, गागर में सागर को समाने की चेष्टा करना है। वात्सल्य और प्रेम की साक्षात् मूर्ति, परोपकारिता एवं परदुःखकातरता से प्लावित हृदय, दिव्य गुरुनिष्ठा, स्वावलंबन एवं कर्मनिष्ठा, निराभिमानता की मूर्ति, भारतीय संस्कृति की रक्षक.... किन-किन गुणों का वर्णन करें? फिर भी उनके महान जीवन की वाटिका के कुछ पुष्प यहाँ प्रस्तुत करते हैं, जिनका सौरभ जन-जन को सुरभित किये बिना न रह सकेगा।)

अनुक्रम

अम्मा की गुरुनिष्ठा

अम्मा अर्थात् पूर्ण निरभिमानीता का मूर्त स्वरूप। उनका परोपकारी सरल स्वभाव, निष्काम सेवाभाव एवं परहितचिंतन किसी को भी उनके चरणों में स्वाभाविक ही झुकने के लिए प्रेरित कर दे। अनेकों साधक जब अम्मा के दर्शन करने के लिए जाते, तब कई बार संसार के ताप से तप्त हृदय उनके समक्ष खुल जाते: "अम्मा! आप आशीर्वाद दो न ! मैं परेशानियों से छूट जाऊँ..."

अम्मा का गुरुभक्त हृदय सामने वाले के हृदय में उत्साह एवं उमंग का संचार कर देता एवं उसकी गुरुनिष्ठा को मजबूत बना देता। वे कहतीं- "गुरुदेव बैठे हैं न ! हमेशा उन्हींसे प्रार्थना करो कि "हे गुरुवर ! हम आपके साथ का यह सम्बन्ध सदा के लिए निभा सकें ऐसी कृपा करना.... हम गुरु से निभाकर ही इस संसार से जायें..." माँगना हो तो गुरुदेव की भक्ति ही माँगना। मैं भी उनके पास से यही माँगती हूँ। अतः तुम्हें मेरा आशीर्वाद नहीं अपितु गुरुदेव का अनुग्रह माँगते रहना चाहिए। वे ही हमें हिम्मत देंगे। बल देंगे। वे शक्तिदाता हैं न !"

साधना-पथ पर चलनेवाले गुरुभक्तों को अम्मा का यह उपदेश अपने हृदयपटल पर स्वर्णाक्षरों में अंकित कर लेना चाहिए।

अनुक्रम

स्वावलंबन एवं परदुःखकातरता

अम्मा प्रातःकाल सूर्योदय से पूर्व 4-5 बजे उठ जातीं और नित्यकर्म से निवृत्त होकर पहले अपने नियम करतीं। कितना भी कार्य हो, पर एक घण्टा तो जप करती ही थीं। यह बात तब की है जब तक उनके शरीर ने उनका साथ दिया। जब शरीर वृद्धावस्था के कारण थोड़ा अशक्त होने लगा तो फिर तो दिन भर जप करती रहती थीं।

82 वर्ष की अवस्था तक तो अम्मा अपना भोजन स्वयं बनाकर खाती थीं। आश्रम के अन्य सेवाकार्य करतीं, रसोईघर की देखरेख करतीं। बगीचे में पानी पिलातीं, सब्जी आदि तोड़कर लातीं बीमार का हालचाल पूछकर आतीं एवं रात्रि में भी एक-दो बजे आश्रम का चक्कर लगाने निकल पड़तीं। यदि शीतकाल का मौसम

होता, कोई ठंड से ठिठुर रहा होता तो चुपचाप उसे कंबल ओढ़ा आतीं। उसे पता भी नहीं चलता और वह शांति से सो जाता। उसे शांति से सोते देखकर अम्मा का मातृहृदय संतोष की साँस लेता। इसी प्रकार गरीबों में भी ऊनी वस्त्रों एवं कंबलों का वितरण पूजनीया अम्मा करतीं-करवातीं।

उनके लिए तो कोई भी पराया न था। चाहे आश्रमवासी बच्चे हों या सड़क पर रहने वाले दरिद्रनारायण, सबके लिए उनके वात्सल्य का झरना सदैव बहता ही रहता था। किसी को कोई कष्ट न हो, दुःख न हो, पीड़ा न हो इसके लिए स्वयं को कष्ट उठाना पड़े तो उन्हें मंजूर था, पर दूसरे की पीड़ा, दूसरे का कष्ट उनसे न देखा जाता था।

उनमें स्वावलंबन एवं परदुःखकातरता का अदभुत सम्मिश्रण था। वह भी इस तरह कि उसका कोई अहं नहीं, कोई गर्व नहीं। "सबमें परमात्मा है अतः किसी को दुःख क्यों पहुँचाना?" यह सूत्र उनके पूरे जीवन में ओतप्रोत नजर आता था। व्यवहार तो ठीक, वाणी के द्वारा भी कभी किसी का दिल अम्मा ने दुखाया हो, ऐसा देखने में नहीं आया।

सचमुच, पूजनीया अम्मा के ये सदगुण आत्मसात् करके प्रत्येक मानव अपने जीवन को दिव्य बना सकता है।

अनुक्रम

अम्मा में माँ यशोदा जैसा भाव

जब अम्मा पाकिस्तान में थीं तब तो नित्य नियम से छाछ-मक्खन बाँटा ही करती थीं, लेकिन भारत में आने पर भी उनका यह क्रम कभी नहीं टूटा। अपने आश्रम-निवास के दौरान अम्मा अपने हाथों से ही छाछ बिलोतीं एवं लोगों में छाछ-मक्खन बाँटतीं। जब तक शरीर ने साथ दिया तब तक स्वयं दही बिलोवा, लेकिन 82 वर्ष की अवस्था के बाद जब शरीर असमर्थ हो गया, तब भी दूसरों से मक्खन निकलवाकर बाँटा करतीं।

अपने जीवन के अंतिम 3-4 वर्ष अम्मा ने एकदम एकांत, शांत स्थल 'शांति वाटिका' में बिताये। वहाँ भी अम्मा कभी-कभार आश्रम से मक्खन मँगवाकर वाटिका के साधकों को देतीं।

अपनी जीवनलीला समाप्त करने से 4-5 महीन पूर्व अम्मा हिम्मतनगर आश्रम में थीं। वहाँ तो मक्खन मिलता भी नहीं था, तब अमदावाद आश्रम से मक्खन मँगवाकर वहाँ के साधकों में बाँटवाया। सबको मक्खन बाँटने में पूजनीया अम्मा बड़ी तृप्ति का अनुभव करतीं। ऐसा लगता मानों, माँ यशोदा अपने गोप-बालकों को मक्खन खिला रही हों !

अनुक्रम

देने की दिव्य भावना

अम्मा किसी को प्रसाद लिए बिना न जाने देती थीं। यह तो उनके संपर्क में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति का अनुभव है।

नवरात्रि की घटना है। एक बार आगरा का एक भाई अम्मा को भेंट करने के लिए एक गुलदस्ता लेकर आया। दर्शन करके वह भाई तो चला गया। सेविका को उसे प्रसाद देना याद न रहा। अम्मा को इस बात का बड़ा दुःख हुआ कि वह भाई प्रसाद लिए बिना चला गया। अचानक वह भाई किसी कारणवश पुनः अम्मा की कुटीर के पास आया। उसे बुलाकर अम्मा ने प्रसाद दिया, तभी उनको चैन पड़ा।

ऐसा तो एक-दो का नहीं, सैंकड़ों-हजारों का अनुभव है कि आगन्तुक को प्रसाद दिये बिना अम्मा नहीं जाने देती थीं। देना, देना और देना..... यही उनका स्वभाव था। वह देना भी कैसा कि कोई संकीर्णता नहीं, देने का कोई अभिमान नहीं !

ऐसी सहृदय एवं परोपकारी माँ के यहाँ यदि संत अवतरित न हों तो कहाँ हों?

अनुक्रम

गरीब कन्याओं के विवाह में मदद

पूजनीया माँ का स्वभाव अत्यंत परोपकारी था। गरीबों की वेदना उनके हृदय को पिघलाकर रख देती थी। कभी भी किसी की दुःख-पीड़ा की बात उनके कानों तक पहुँचती तो फिर उसकी सहायता कैसे करनी है – इसी बात का चिंतन माँ के मन में चलता रहता था और जब तक उसे यथा योग्य मदद न मिल जाती, तब तक वे चैन से बैठती तक नहीं।

एक गरीब परिवार में कन्या की शादी थी। जब पूजनीया माँ को इस बात का पता चला तो उन्होंने अत्यंत दक्षता के साथ उसे मदद करने की योजना बना डाली। उस परिवार की आर्थिक स्थिति जानकर लड़की के लिए वस्त्र एवं आभूषण बनवा दिये और शादी के खर्च का बोझ कुछ हलका हो – इस ढंग से आर्थिक मदद भी की और वह भी इस तरह से कि लेने वाले को पता तक न चल पाया कि यह सब पूजनीया माँ के दयालु स्वभाव की देन है। कई गरीब परिवारों को पूजनीया माँ की ओर से कन्या की शादी में यथायोग्य सहायता इस प्रकार से मिलती रहती थी मानों उनकी अपनी बेटे की शादी हो !

अनुक्रम

अम्मा का उत्सव प्रेम

भारतीय संस्कृति के प्रत्येक पर्व त्योहारों को मनाने के लिए अम्मा सभी को प्रोत्साहित किया करती थीं एवं स्वयं भी पर्व के अनुरूप सबको प्रसाद बाँटा करती थीं। जैसे मकर-संक्रांति पर तिल के लड्डू.... आदि। आश्रम के पैसों से दान का बोझ न चढ़े, इसलिए अपने ज्येष्ठ पुत्र जेठानंद से पैसे लेकर पूजनीया अम्मा पर्वों पर प्रसाद बाँटा करती।

सिंधियों का एक विशेष त्योहार है 'तीजड़ी' जो रक्षाबन्धन के तीसरे दिन आता है। उस दिन चाँद के दर्शन पूजन करके ही स्त्रियाँ भोजन करती हैं। अम्मा की सेविका ने भी तीजड़ी का व्रत रखा था। उस वक्त अम्मा हिम्मतनगर में थीं। रात्रि हो चुकी थी। सेविका ने अम्मा से भोजन के लिए प्रार्थना की तो अम्मा बोल

मीराबाई की गुरुभक्ति

(मीराबाई की दृढ़ भक्ति को कौन नहीं जानता? उन्हीं के कुछ पदों द्वारा उनके जीवन प्रसंग पर प्रकाश डालते हुए पूज्यश्री कह रहे हैं)

भक्तिमती मीराबाई का एक प्रसिद्ध भजन है:

पग घुँघरू बाँध मीरा नाची रे। लोग कहें मीरा भई रे बावरी,
सास कहे कुलनासी रे। बिष को प्यालो राणाजी भेज्यो,
पीवत मीरा हाँसी रे। मैं तो अपने नारायण की,
आपहि हो गइ दासी रे। मीरा के प्रभु गिरधर नागर,
सहज मिल्या अबिनासी रे।

एक बार संत रैदास जी चितौड़ पधारे थे। रैदासजी रघु चमार के यहाँ जन्में थे। उनकी छोटी जाति थी और उस समय जात-पाँत का बड़ा बोल बाला था। वे नगर से दूर चमारों की बस्ती में रहते थे। राजरानी मीरा को पता चला कि संत रैदासजी महाराज पधारे हैं लेकिन राजरानी के वेश में वहाँ कैसे जायें? मीरा एक मोची महिला का वेश बनाकर चुपचाप रैदासजी के पास चली जाती, उनका सत्संग सुनती, उनके कीर्तन और ध्यान में मग्न हो जाती।

ऐसा करते-करते मीरा का सत्त्वगुण दृढ़ हुआ। मीरा ने सोचा: 'ईश्वर के रास्ते जायें और चोरी छिपे जायें? आखिर कब तक?' फिर मीरा अपने ही वेश में उन चमारों की बस्ती में जाने लगी।

मीरा को उन चमारों की बस्ती में जाते देखकर अड़ोस-पड़ोस में कानाफूसी होने लगी। पूरे मेवाड़ में कुहराम मच गया कि 'ऊँची जाति की, ऊँचे कुल की, राजघराने की मीरा नीची जाति के चमारों की बस्ती में जाकर साधुओं के यहाँ बैठती है, मीरा ऐसी है.... वैसी है.....' ननद उदा ने उसे बहुत समझाया:

"भाभी ! लोग क्या बोलेंगे? तुम राजकुल की रानी और गंदी बस्ती में, चमारों की बस्ती में जाती हो? चमड़े का काम करनेवाले चमार जाति के एक व्यक्ति को गुरु मानती हो? उसको मत्था टेकती हो? उसके हाथ से प्रसाद लेती हो? उसको एकटक देखते-देखते आँखें बंद करके न जाने क्या-क्या सोचती और करती हो? यह ठीक नहीं है। भाभी ! तुम सुधर जाओ।"

सासु नाराज, ससुर नाराज, देवर नाराज, ननद नाराज, कुटुंबीजन नाराज.... उदा ने कहा:

मीरा मान लीजियो म्हारी, तने सखियाँ बरजे सारी।

राणा बरजे, राणी बरजे, बरजे सपरिवारी।

साधन के संग बैठ, बैठ के लाज गँवायी सारी।।

मीरा ! अब तो मान जा। तुझे मैं समझा रही हूँ, सखियाँ समझा रही हैं, राणा भी कह रहा है, रानी भी कह रही है, सारा परिवार कह रहा है.... फिर भी तू क्यों नहीं समझती है? इन संतों के साथ बैठ-बैठकर तू कुल की सारी लाज गँवा रही है।'

नित प्रति उठ नीच घर जाय कुलको कलंक लगावे।

मीरा मान लीजियो म्हारी तने बरजे सखियाँ सारी।।

तब मीरा ने उत्तर दिया:

तारयो पियर सासरियो तारयो माह्न मौसाली सारी।

मीरा ने अब सदगुरु मिलिया चरणकमल बलिहारी।।

'मैं संतों के पास गयी तो मैंने पीहर का कुल तारा, ससुराल का कुल तारा, मौसाल का और ननिहाल का कुल भी तारा है।'

मीरा की ननद पुनः समझाती है:

तने बरज बरज मैं हारी भाभी ! मानो बात हमारी।

राणा रोस किया था ऊपर साधो में मत जारी।

कुल को दाग लगे है भाभी ! निंदा होय रही भारी।।

साधो रे संग बन बन भटको लाज गँवायी सारी।

बड़ गर में जनम लियो है नाचो दै दै तारी।

वह पायो हिंदुअन सूरज अब बिदल में कोई धारी।

मीरा गिरधर साध संग तज चलो हमारी लारी।

तने बरज बरज मैं हारी भाभी मानों बात हमारी।।

उदा ने मीरा को बहुत समझाया लेकिन मीरा की श्रद्धा और भक्ति अडिग ही रही। मीरा कहती है कि अब मेरी बात सुन:

मीरा बात नहीं जग छानी समझो सुधर सयानी।

साधु मात पिता हैं मेरे स्वजन, स्नेही, ज्ञानी।।

संत चरण की शरण रैन दिन।

मीरा कहै प्रभु गिरधर नागर संतन हाथ बिकानी।।

'मीरा की बात अब जगत से छिपी नहीं है। साधु ही मेरे माता-पिता हैं, मेरे स्वजन हैं, मेरे स्नेही हैं, ज्ञानी हैं। मैं तो अब संतों के हाथ बिक गयी हूँ, अब मैं केवल उनकी ही शरण हूँ।'

ननद उदा आदि सब समझा-समझाकर थक गये कि 'मीरा ! तेरे कारण हमारी इज्जत गयी... अब तो हमारी बात मान ले।' लेकिन मीरा भक्ति में दृढ़ रही। लोग समझते हैं कि इज्जत गयी किंतु ईश्वर की भक्ति करने पर आज तक किसी की लाज नहीं गयी है। संत नरसिंह मेहता ने कहा भी है:

हरि ने भजता हजी, कोईनी लाज जतां नथी जाणी रे....

मूर्ख लोग समझते हैं कि भजन करने से इज्जत चली जाती है वास्तव में ऐसा नहीं है।

राम नाम के शरणे सब यश दीन्हो खोय।

मूर्ख जाने घटि गयो दिन दिन दूनो होय।।

इस प्रकार अनेक युक्तियों और अत्यंत विनम्रता से उन्होंने अपने पति को समझा दिया। वे संसार के कीचड़ में न गिरते हुए भी अपने पति की बहुत अच्छी तरह से सेवा करती थीं। पति नौकरी करके घर आते तो गर्म-गर्म भोजन बनाकर खिलातीं।

वे घर भी ध्यानाभ्यास किया करती थीं। कभी-कभी स्टोव पर दाल चढ़ाकर, छत पर खुले आकाश में चंद्रमा की ओर त्राटक करते-करते ध्यानस्थ हो जातीं। इतनी ध्यानमग्न हो जातीं कि स्टोव पर रखी हुई दाल जलकर कोयला हो जाती। घर के लोग डाँटते तो चुपचाप अपनी भूल स्वीकार कर लेतीं लेकिन अन्दर से तो समझती कि 'मैं कोई गलत मार्ग पर तो नहीं जा रही हूँ...' इस प्रकार उनके ध्यान-भजन का क्रम चालू ही रहा। घर में रहते हुए ही उनके पास एकाग्रता का कुछ सामर्थ्य आ गया।

एक रात्रि को वे उठीं और अपने पति को भी उठाया। फिर स्वयं महाकाली का चिंतन करके अपने पति को आदेश दिया: "महाकाली की पूजा करो।" उनके पति ने उनका पूजन कर दिया। आनंदमयी माँ में उन्हें महाकाली के दर्शन होने लगे। उन्होंने आनंदमयी माँ को प्रणाम किया।

तब आनंदमयी माँ बोलीं- अब महाकाली को तो माँ की नजर से ही देखना है न?"

पति: "यह क्या हो गया।"

आनंदमयी माँ- "तुम्हारा कल्याण हो गया।"

कहते हैं कि उन्होंने अपने पति को दीक्षा दे दी और साधु बनाकर उत्तरकाशी के आश्रम में भेज दिया।

कैसी दिव्य नारी रही होंगी माँ आनंदमयी ! उन्होंने अपने पति को भी परमात्मा के रंग में रँग दिया। जो संसार की माँग करता था उसे भगवान की माँग का अधिकारी बना दिया। इस भारतभूमि में ऐसी भी अनेक सन्नारियाँ हो गयीं ! कुछ वर्ष पूर्व ही आनंदमयी माँ ने अपना शरीर त्यागा है। हरिद्वार में एक करोड़ बीस लाख रुपये खर्च करके उनकी समाधि बनवायी गयी है।

ऐसी तो अनेकों बंगाली लड़कियाँ थीं, जिन्होंने शादी की, पुत्रों को जन्म दिया, पढ़ाया-लिखाया और मर गयीं। शादी करके संसार व्यवहार चलाओ उसकी ना नहीं है, लेकिन पति को विकारों में गिराना या पत्नी के जीवन को विकारों में खत्म करना, यह एक-दूसरे के मित्र के रूप में एक-दूसरे के शत्रु का कार्य है। संयम से संतति को जन्म दिया यह अलग बात है। किंतु विषय-विकारों में फँस मरने के लिए थोड़े ही शादी की जाती है।

बुद्धिमान नारी वही है जो अपने पति को ब्रह्मचर्य पालन में मदद करे और बुद्धिमान पति वही है जो विषय विकारों से अपनी पत्नी का मन हटाकर निर्विकारी नारायण के ध्यान में लगाये। इस रूप में पति पत्नी दोनों सही अर्थों में एक दूसरे के पोषक होते हैं, सहयोगी होते हैं। फिर उनके घर में जो बालक जन्म लेते हैं वे भी ध्रुव, गौरांग, रमण महर्षि, रामकृष्ण परमहंस या विवेकानंद जैसे बन सकते हैं।

माँ आनंदमयी को संतों से बड़ा प्रेम था। वे भले प्रधानमंत्री से पूजित होती थीं किंतु स्वयं संतों को पूजकर आनंदित होती थीं। श्री अखण्डानंदजी महाराज सत्संग करते तो वे उनके चरणों में बैठकर सत्संग सुनती। एक बार सत्संग की पूर्णाहूति पर माँ आनंदमयी सिर पर थाल लेकर गयीं। उस थाल में चाँदी का शिवलिंग था। वह थाल अखण्डानंदजी को देते हुए बोलीं-

"बाबाजी ! आपने कथा सुनायी है, दक्षिणा ले लीजिए।"

माँ- "बाबाजी और भी दक्षिणा ले लो।"

अखण्डानंदजी: "माँ ! और क्या दे रही हो?"

माँ- "बाबाजी ! दक्षिणा में मुझे ले लो न !"

अखण्डानंदजी ने हाथ पकड़ लिया एवं कहा:

"ऐसी माँ को कौन छोड़े? दक्षिणा में आ गयी मेरी माँ।"

कैसी है भारतीय संस्कृति !

हरिबाबा बड़े उच्चकोटि के संत थे एवं माँ आनंदमयी के समकालीन थे। वे एक बार बहुत बीमार पड़ गये। डॉक्टर ने लिखा है: "उनका स्वास्थ्य काफी लड़खड़ा गया और मुझे उनकी सेवा का सौभाग्य मिला। उन्हें रक्तचाप भी था और हृदय की तकलीफ भी थी। उनका कष्ट इतना बढ़ गया था कि नाड़ी भी हाथ में नहीं आ रही थी। मैंने माँ को फोन किया कि 'माँ ! अब बाबाजी हमारे बीच नहीं रहेंगे। 5-10 मिनट के ही मेहमान हैं।' माँ ने कहा: 'नहीं, नहीं। तुम 'श्रीहनुमानचालीसा' का पाठ कराओ मैं आती हूँ।'

मैंने सोचा कि माँ आकर क्या करेंगी? माँ को आते-आते आधा घण्टा लगेगा। 'श्रीहनुमानचालीसा' का पाठ शुरू कराया गया और चिकित्सा विज्ञान के अनुसार हरिबाबा पाँच-सात मिनट में ही चल बसे। मैंने सारा परीक्षण किया। उनकी आँखों की पुतलियाँ देखीं। पल्स (नाड़ी की धड़कन) देखी। इसके बाद 'श्रीहनुमानचालीसा' का पाठ करने वालों के आगेवान से कहा कि अब बाबाजी की विदाई के लिए सामान इकट्ठा करें। मैं अब जाता हूँ।

घड़ी भर माँ का इंतजार किया। माँ आर्यी बाबा से मिलने। हमने माँ से कहा: "माँ ! बाबाजी नहीं रहे... चले गये।"

मा: "नहीं,नहीं.... चले कैसे गये? मैं मिलूँगी, बात करूँगी।"

मैं- "माँ ! बाबा जी चले गये हैं।"

माँ- "नहीं। मैं बात करूँगी।"

बाबाजी का शव जिस कमरे में था, माँ उस कमरे में गयीं। अंदर से कुण्डा बंद कर दिया। मैं सोचने लगा कि कई डिग्रियाँ हैं मेरे पास। मैंने भी कई केस देखे हैं, कई अनुभवों से गुजरा हूँ। धूप में बदले सफेद नहीं किये हैं, अब माँ दरवाजा बंद करके बाबाजी से क्या बात करेंगी?

मैं घड़ी देखता रहा। 45 मिनट हुए। माँ ने कुण्डा खोला एवं हँसती हुई आर्यी। उन्होंने कहा: "बाबाजी मेरा आग्रह मान गये हैं। वे अभी नहीं जायेंगे।"

मुझे एक धक्का सा लगा ! 'वे अभी नहीं जायेंगे? यह आनंदमयी माँ जैसी हस्ती कह रही हैं ! वे तो जा चुके हैं !

मैं- "माँ ! बाबाजी तो चले गये हैं।"

माँ- "नहीं, नहीं.... उन्होंने मेरा आग्रह मान लिया है। अभी नहीं जायेंगे।"

मैं चकित होकर कमरे में गया तो बाबाजी तकिये को टेका देकर बैठे-बैठे हंस रहे थे। मेरा विज्ञान वहाँ तौबा पुकार गया ! मेरा अहं तौबा पुकार गया !

अभाव का ही अभाव

कश्मीर में तर्करत्न, न्यायाचार्य पंडित रहते थे। उन्होंने चार पुस्तकों की रचना की थी, जिनसे बड़े-बड़े विद्वान तक प्रभावित थे। इतनी विद्वता होते हुए भी उनका जीवन अत्यंत सीधा-सादा एवं सरल था। उनकी पत्नी भी उन्हीं के समान सरल एवं सीधा-सादा जीवन-यापन करने वाली साध्वी थीं।

उनके पास संपत्ति के नाम पर एक चटाई, लेखनी कागज एवं कुछ पुस्तकें तथा दो जोड़ी वस्त्र थे। वे कभी किसी से कुछ माँगते न थे और न ही दान का खाते थे। उनकी पत्नी जंगल से मूँज काटकर लातीं, उससे रस्सी बनातीं और उसे बेचकर अनाज-सब्जी आदि खरीद लातीं। फिर भोजन बना कर पति को प्रेम से खिलातीं और घर के अन्य कामकाज करतीं। पति को तो यह पता भी न रहता कि घर में कुछ है या नहीं। वे तो बस, अपने अध्ययन-मनन में मस्त रहते।

ऐसी महान साध्वी स्त्रियाँ भी इस भारतभूमि में हो चुकी हैं। धीरे-धीरे पंडित जी की ख्याति अन्य देशों में भी फैलने लगी। अन्य देशों के विद्वान लोग आकर उनके देख कश्मीर के राजा शंकरदेव से कहने लगे:

"राजन ! जिस देश में विद्वान, धर्मात्मा, पवित्रात्मा दुःख पाते हैं, उस देश के राजा को पाप लगता है। आपके देश में भी एक ऐसे पवित्रात्मा विद्वान हैं, जिनके पास खाने पीने का ठिकाना नहीं है, फिर भी आप उनकी कोई सँभाल नहीं रखते?"

यह सुनकर राजा स्वयं पंडितजी की कुटिया में पहुँच गया। हाथ जोड़कर उनसे प्रार्थना करने लगा: "भगवन् ! आपके पास कोई कमी तो नहीं है?"

पंडितजी: "मैंने जो चार ग्रन्थ लिखे हैं, उनमें मुझे तो कोई कमी नहीं दिखती। आपको कोई कमी लगती हो तो बताओ।"

राजा: "भगवन् ! मैं शब्दों की, ग्रन्थ की कमी नहीं पूछता हूँ, वरन् अन्न जल वस्त्र आदि घर के व्यवहार की चीजों की कमी पूछ रहा हूँ।"

पंडितजी: "उसका मुझे कोई पता नहीं है। मेरा तो केवल एक प्रभु से नाता है। उसी के स्मरण में इतना तल्लीन रहता हूँ कि मुझे घर का कुछ पता ही नहीं रहता।"

जो भगवान की स्मृति में तल्लीन रहता है, उसके द्वार पर सम्राट स्वयं आ जाते हैं, फिर भी उसे कोई परवाह नहीं रहती।

राजा ने खूब विनम्र भाव से पुनः प्रार्थना की एवं कहा: "भगवन् ! जिस देश में पवित्रात्मा दुःखी होते हैं, उस देश का राजा पाप का भागी होता है। अतः आप बताने की कृपा करें कि मैं आपकी सेवा करूँ?"

जैसे ही पंडितजी ने ये वचन सुने कि तुरंत अपनी चटाई लपेटकर बगल में दबा ली एवं पुस्तकों की पोटली बाँधकर उसे भी उठाते हुए अपनी पत्नी से कहा: "चलो देवी ! यदि अपने यहाँ रहने से इन राजा को पाप का भागी होना पड़ता हो, इस राज्य को लॉछन लगता हो तो हम लोग कहीं ओर चलें। अपने रहने से किसी को दुःख हो, यह तो ठीक नहीं है।"

भगवान श्री राम रावण का वध करके माँ सीता, लक्ष्मण, हनुमान, विभीषण, जांबवत आदि के साथ अयोध्या लौट रहे थे। मार्ग में हनुमान जी ने श्रीरामजी से अपनी माँ के दर्शन की आज्ञा माँगी कि "प्रभु ! अगर आप आज्ञा दें तो मैं माता जी के चरणों में मत्था टेक आऊँ।"

श्रीराम ने कहा: "हनुमान ! क्या वे केवल तुम्हारी ही माता हैं? क्या वे मेरी और लखन की माता नहीं हैं? चलो, हम भी चलते हैं।"

पुष्पक विमान किष्किंधा से अयोध्या जाते-जाते कांचनगिरि की ओर चल पड़ा और कांचनगिरी पर्वत पर उतरा। श्रीरामजी स्वयं सबके साथ माँ अंजना के दर्शन के लिए गये।

हनुमानजी ने दौड़कर गदगद कंठ एवं अश्रुपूरित नेत्रों से माँ को प्रणाम किया। वर्षों बाद पुत्र को अपने पास पाकर माँ अंजना अत्यंत हर्षित होकर हनुमान का मस्तक सहलाने लगीं।

माँ का हृदय कितना बरसता है यह बेटे को कम ही पता होता है। माता-पिता का दिल तो माता-पिता ही जानें !

माँ अंजना ने पुत्र को हृदय से लगा लिया। हनुमान जी ने माँ को अपने साथ ये लोगों का परिचय दिया कि 'माँ ! ये श्रीरामचन्द्रजी हैं, ये माँ सीताजी हैं और ये लखन भैया हैं। ये जांबवंत जी हैं, ये माँ सीताजी हैं और ये लखन भैया हैं। ये जांबवत जी हैं.... आदि आदि।

भगवान श्रीराम को देखकर माँ अंजना उन्हें प्रणाम करने जा ही रही थीं कि श्रीरामजी ने कहा: "माँ ! मैं दशरथपुत्र राम आपको प्रणाम करता हूँ।"

माँ सीता व लक्ष्मण सहित बाकी के सब लोगों ने भी उनको प्रणाम किया। माँ अंजना का हृदय भर आया। उन्होंने गदगद कंठ एवं सजल नेत्रों से हनुमान जी से कहा: "बेटा हनुमान ! आज मेरा जन्म सफल हुआ। मेरा माँ कहलाना सफल हुआ। मेरा दूध तूने सार्थक किया। बेटा ! लोग कहते हैं कि माँ के ऋण से बेटा कभी उऋण नहीं हो सकता लेकिन मेरे हनुमान ! तू मेरे ऋण से उऋण हो गया। तू तो मुझे माँ कहता ही है किंतु आज मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम ने भी मुझे 'माँ' कहा है ! अब मैं केवल तुम्हारी ही माँ नहीं, श्रीराम, लखन, शत्रुघ्न और भरत की भी माँ हो गयी, इन असंख्य पराक्रमी वानर-भालुओं की भी माँ हो गयी। मेरी कोख सार्थक हो गयी। पुत्र हो तो तेरे जैसा हो जिसने अपना सर्वस्व भगवान के चरणों में समर्पित कर दिया और जिसके कारण स्वयं प्रभु ने मेरे यहाँ पधार कर मुझे कृतार्थ किया।"

हनुमानजी ने फिर से अपनी माँ के श्रीचरणों में मत्था टेका और हाथ जोड़ते हुए कहा: "माँ ! प्रभु जी का राज्याभिषेक होनेवाला था परंतु मंथरा ने कैकेयी को उलटी सलाह दी, जिससे प्रभुजी को 14 वर्ष का बनवास एवं भरत को राजगद्दी मिली राजगद्दी अस्वीकार करके भरतजी उसे श्रीरामजी को लौटाने के लिए आये लेकिन पिता के मनोरथ को सिद्ध करने के लिए भाव से प्रभु अयोध्या वापस न लौटे।

माँ ! दुष्ट रावण की बहन शूर्पणखा प्रभुजी से विवाह के लिए आग्रह करने लगी किंतु प्रभुजी उसकी बातों में नहीं आये, लखन जी भी नहीं आये और लखन जी ने शूर्पणखा के नाक कान काटकर उसे दे दिये। अपनी बहन के अपमान का बदला लेने के लिए दुष्ट रावण ब्राह्मण का रूप लेकर माँ सीता को हरकर ले गया।

करुणानिधान प्रभु की आज्ञा पाकर मैं लंका गया और अशोक वाटिका में बैठी हुई माँ सीता का पता लगाया तथा उनकी खबर प्रभु को दी। फिर प्रभु ने समुद्र पर पुल बँधवाया और वानर-भालुओं को साथ लेकर राक्षसों का वध किया और विभीषण को लंका का राज्य देकर प्रभु माँ सीता एवं लखन के साथ अयोध्या पधार रहे हैं।"

अचानक माँ अंजना कोपायमान हो उठीं। उन्होंने हनुमान को धक्का मार दिया और क्रोधसहित कहा: "हट जा, मेरे सामने। तूने व्यर्थ ही मेरी कोख से जन्म लिया। मैंने तुझे व्यर्थ ही अपना दूध पिलाया। तूने मेरे दूध को लजाया है। तू मुझे मुँह दिखाने क्यों आया?"

श्रीराम, लखन भैयासहित अन्य सभी आश्चर्यचकित हो उठे कि माँ को अचानक क्या हो गया? वे सहसा कुपित क्यों हो उठीं? अभी-अभी ही तो कह रही थीं कि 'मेरे पुत्र के कारण मेरी कोख पावन हो गयी.... इसके कारण मुझे प्रभु के दर्शन हो गये....' और सहसा इन्हें क्या हो गया जो कहने लगीं कि 'तूने मेरा दूध लजाया है।'

हनुमानजी हाथ जोड़े चुपचाप माता की ओर देख रहे थे। **सर्वतीर्थमयी माता सर्वदेवमयो पिता....** माता सब तीर्थों की प्रतिनिधि है। माता भले बेटे को जरा रोक-टोक दे लेकिन बेटे को चाहिए कि नतमस्तक होकर माँ के कड़वे वचन भी सुन लें। हनुमान जी के जीवन से यह शिक्षा अगर आज के बेटे-बेटियाँ ले लें तो वे कितने महान हो सकते हैं !

माँ की इतनी बातें सुनते हुए भी हनुमानजी नतमस्तक हैं। वे ऐसा नहीं कहते कि 'ऐ बुढ़िया ! इतने सारे लोगों के सामने तू मेरी इज्जत को मिट्टी में मिलाती है? मैं तो यह चला....'

आज का कोई बेटा होता तो ऐसा कर सकता था किंतु हनुमानजी को तो मैं फिर-फिर से प्रणाम करता हूँ। आज के युवान-युवतियाँ हनुमानजी से सीख ले सकें तो कितना अच्छा हो?

मेरे जीवन में मेरे माता-पिता के आशीर्वाद और मेरे गुरुदेव की कृपा ने क्या-क्या दिया है उसका मैं वर्णन नहीं कर सकता हूँ। और भी कड़ियों के जीवन में मैंने देखा है कि जिन्होंने अपनी माता के दिल को जीता है, पिता के दिल की दुआ पायी है और सदगुरु के हृदय से कुछ पा लिया है उनके लिए त्रिलोकी में कुछ भी पाना कठिन नहीं रहा। सदगुरु तथा माता-पिता के भक्त स्वर्ग के सुख को भी तुच्छ मानकर परमात्म-साक्षात्कार की योग्यता पा लेते हैं।

माँ अंजना कहे जा रही थीं- "तुझे और तेरे बल पराक्रम को धिक्कार है। तू मेरा पुत्र कहलाने के लायक ही नहीं है। मेरा दूध पीने वाले पुत्र ने प्रभु को श्रम दिया? अरे, रावण को लंकासहित समुद्र में डालने में तू समर्थ था। तेरे जीवित रहते हुए भी परम प्रभु को सेतु-बंधन और राक्षसों से युद्ध करने का कष्ट उठाना पड़ा। तूने मेरा दूध लज्जित कर दिया। धिक्कार है तुझे ! अब तू मुझे अपना मुँह मत दिखाना।"

हनुमानजी सिर झुकाते हुए कहा: "माँ ! तुम्हारा दूध इस बालक ने नहीं लजाया है। माँ ! मुझे लंका भेजने वालों ने कहा था कि तुम केवल सीता की खबर लेकर आओगे और कुछ नहीं करोगे। अगर मैं इससे अधिक कुछ करता तो प्रभु का लीलाकार्य कैसे पूर्ण होता? प्रभु के दर्शन दूसरों को कैसे मिलते? माँ ! अगर मैं

